भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

परशुराम चतुर्वेदी

भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

परशुराम चतुर्वेदी

'उत्तरी भारत की संत परम्परा', 'कबीर साहित्य की परख' आदि अनेक बहुप्रशंसित ग्रन्थों के लेखक तथा मीरांबाई की पदावली और संत काव्य आदि के यशस्वी संपादक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य के एकान्त साधक हैं। मध्यकालीन साहित्य में आपकी विशेष प्रवृत्ति है। सिद्ध, नाथ, संत और सूफी साहित्य का आपने गहरा अनुशीलन एवं मनन किया है। साहित्य के अतिरिक्त इतिहास, धर्म और दर्शन आपके प्रिय विषय हैं। हिन्दी के साथ-साथ आप संस्कृत, फारसी, फ्रेंच, अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, मराठी, आदि कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। गम्भीर तथा तुलनात्मक अध्ययन, व्यापक दृष्टिकोण, सुलझे विचार और वैज्ञानिक विवेचना आपकी कृतियों की विशेषता है।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य परशुराम जी चतुर्वेदी के गम्भीर अध्ययन-मनन का सुन्दर उदाहरण है। मधुरोपासना भक्ति-धारा की एक प्रमुख विशेषता बनकर रहती आयी है। मनुष्य मात्र के लिए सहज होने के नाते यह प्रवृत्ति सार्वदेशिक है। इस कारण इसका प्रभाव सम्पूर्ण भक्तिधारा पर किसी-न-किसी रूप में लक्षित होता है। चतुर्वेदी जी ने अपनी इस पुस्तक में भक्ति साहित्य में उपलब्ध मधुरोपासना का सम्यक अध्ययन प्रस्तुत करते समय उसके क्रमिक विकास का भी ध्यान रखा है। धर्म, साहित्य और संस्कृति के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

परशुराम चतुर्वेदी
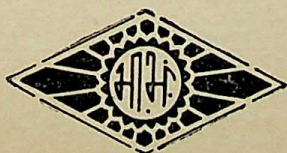
ग्रन्थ-संख्या—२२५

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सं० २०१८ वि०
मूल्य : ४.००

मुद्रक
बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस, प्रयाग

प्रस्तावना

'भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना' मेरे तीन ऐसे निबंधों का एक संग्रह मात्र है जो समय-समय पर लिखे गए थे। तीनों के विषय लगभग एक से ही होने के कारण, इन्हें एक साथ संगृहीत कर लिया गया है। इनमें से प्रथम के शीर्षकानुसार, पुस्तक का नामकरण भी कर दिया गया है जो उसमें प्रतिपादित विषय की दृष्टि से कदाचित् अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। द्वितीय एवं तृतीय निबंध, वस्तुतः, दो धार्मिक वर्गों द्वारा अपने-अपने यहाँ अपनायी गई मधुरोपासना के ही दो रूपों को उपस्थित और उदाहृत करते हैं। एक साथ लिखे गए न होने के कारण, तीनों निबंध एक दूसरे से स्वतंत्र कहे जा सकते हैं और इनमें कतिपय पुनरुक्तियों का आ जाना भी स्वाभाविक है। परंतु, इन्हें संगृहीत करते समय, ऐसी किसी बात को दूर कर देने की कोई चेष्टा नहीं की गई है और तीनों को प्रायः पूर्ववत् रहने दिया गया है।

'मधुरोपासना' के 'मधुर' शब्द का मूल सम्बंध 'मधु' के साथ होने से, इस दूसरे के विषय में कुछ और भी विचार किया जा सकता है। इसके उन अर्थों पर भी एक दृष्टि डाली जा सकती है जो पूर्णतः प्रासंगिक नहीं कहे जा सकते, किंतु जिनकी ओर ध्यान जाने पर हम किसी ऐसे परिणाम तक भी पहुँच सकते हैं जो हमारे लिए, मनोरंजक होगा। 'मधु' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'मन' धातु से बतलायी जाती है और, यहाँ पर 'मन ज्ञाने' के अनुसार 'ध' एवं 'उ' का आदेश हुआ समझा जाता है। परंतु कोषों के रचयिताओं ने इस शब्द के पर्यायों में पुष्परस, जल, क्षीर, क्षौद्र, मद्य, मोम, मधूक (महुआ), चैत्र, वसंत और एक दैत्य विशेष के नाम तक की गणना की है तथा एक प्राकृत कोश[1] के अंतर्गत इसका अशोक वृक्ष, किसी छन्द-

---

१. दे० 'पाइअ सद्दमहण्णवो' (ले० पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद शेठ, कलकत्ता, सन् १९२८ ई०) पृ० ८४५–८४६ —ले०

विशेष, राजाविशेष, प्रति वासुदेव राजा, मथुरा के किसी राजकुमार, चक्रवर्त्ती के किसी दवकृत महल जैसे विषयों का सूचक होना भी ठहराया गया है और 'महुर' (मधुर) शब्द का 'अनार्य देशविशेष' अथवा 'उस देश के निवासी अनार्य जातिविशेष' के लिए प्रयुक्त कहा गया है जिससे उसके 'माधुर्य' वाले अभिप्राय का प्रत्यक्षतः कोई भी सम्बंध नहीं है। 'मधुर' शब्द का कोई मिष्ठ रसास्वाद सूचक अर्थ वहाँ पर भी नहीं पाया जाता जहाँ इसे कोशों में मनोहर, सौम्य एवं प्रियदर्शन जैसे शब्दों का पर्याय माना गया है तथा जहाँ उक्त प्राकृत कोश में इसे 'कोमल' तक का समानार्थक समझा गया है।

वैदिक साहित्य का गंभीर अध्ययन करने वाले कुछ विद्वानों के अनुसार अश्विनी कुमार कहे जाने वाले दोनों बंधुओं का संबंध 'मधु' के साथ अन्य देवों की अपेक्षा सर्वाधिक घनिष्ठ प्रदर्शित किया गया मिलता है। इनके पास कोई मधु से भरा चर्मपात्र रहा करता है और उसका पान वे पक्षी किया करते हैं जो इन्हें वहन करते हैं। इन्होंने किसी समय १०० कुंभ मधु गिराया भी था। केवल इन्हीं के रथ को 'मधुवर्ण' अथवा 'मधुवाहन' कहा गया है और इन्हें ही मधुप्रेमी अथवा मधुपा (मधुपान करने वाला) भी बतलाया गया है। जिस पुरोहित के यहाँ इन्हें आने का निमंत्रण दिया गया मिलता है, उसे भी वहाँ पर 'मधु-हस्त' की संज्ञा दी गई है। ये ही मधुमक्खियों को मधु प्रदान करने वाले कहे जाते हैं और उनके साथ इनकी तुलना की गई भी दीख पड़ती है[१]। इन्होंने, किसी पज्र के परिवार वाले 'कक्षीवत्' को प्रचुर सम्पत्ति से परिपूर्ण करते समय उसे सौ पात्रों के बराबर 'सुरा' अथवा मधु प्रदान किया था और ऐसा प्रबन्ध कर दिया था कि एक बलिष्ठ अश्व अपने खुर का प्रयोग करे तथा यह इस प्रकार प्रवाहित

---

१. वैदिक माइथौलोजी (मूल लेखक ए० ए० मैकडौनेल, हिंदी-अनुवादक श्री राम कुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६१ ई०) पृ० ९२-३

हो चले जैसे छनने से जल निकला करता है[१]। अश्विनी कुमार के लिए यह भी कहा गया मिलता है कि इन्होंने अथर्वन् के पुत्र दध्यङ को एक अश्व का सिर समर्पित किया अथवा उस पर स्थापित किया था जिससे दध्यङ ने इन्हें त्वष्टृ के मधु का स्थान बतला दिया था। इस अवसर पर अश्विनों ने दध्यङ का हृदय जीत लिया था जिस कारण अश्व के सिर ने स्वयं बोलकर उसका पता बतला दिया था[२]।

परंतु 'मधु' शब्द का अर्थ वहाँ पर सर्वत्र केवल शहद वा साधारण मधु का ही प्रकट किया गया नहीं जान पड़ता। यह शब्द कहीं-कहीं पर सामान्य 'मीठे पेय' का आशय भी सूचित करता है जो केवल दुग्ध वा घृत का ही न होकर सोमरस तक से भी सम्बद्ध हो सकता है। सोम का अर्थ 'दिव्य पेय' होने पर भी मधु उसका समकक्ष बन जाता है और इस प्रकार यह अमृत का समानार्थी भी होता है। एक व्याहृति में 'सोम्यम् मधु' कहा गया दीख पड़ता है और लाक्षणिक अर्थ में सोमरस को पीयूष, दुग्ध, काण्ड की लहर अथवा मधु का रस भी होना बतलाया गया है जिससे इस बात पर कुछ प्रकाश पड़ता है। सोम के रस को मादक और कहीं-कहीं 'मधुमत्' भी ठहराया गया है जिसका अर्थ केवल मीठा मात्र न होकर 'मधु के मिश्रण द्वारा मीठा किया गया' भी हो सकता है। दबाने के उपकरण (प्रक्रिया) में बहते हुए सोम की तुलना किसी जल धारा के साथ की गई है और उसे प्रत्यक्षरूप में एक लहर अथवा मधु की लहर कहा गया पाया जाता है जिससे भी पता चलता है कि इसका उस पेय के साथ कितना साम्य समझा जाता रहा होगा।[३] इसके सिवाय सोम अथवा मधु का किसी उत्क्रोश नामक पक्षी द्वारा इन्द्र के पास लाया जाना भी कहा गया है। यह पक्षी उसे उच्च-तम स्वर्ग से लाया जहाँ पर इसने उसके लिए किसी मधुर काण्ड को तोड़ा

---

१. वैदिक माइथौलोजी, पृ० ९८

२. वही, पृ० २६९

३. वही, पृ० १९९

और यह उसे अन्तरिक्ष के बीच से अपने पैरों में लाया।[१]

'मधु' शब्द के साथ जुड़े हुए अनेक शब्द पाये जाते हैं जिनके अपने अपने अर्थ होते हैं और वे एक दूसरे से नितांत भिन्न भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए मधूक (महुआ), मधुकण्ठ (मिष्ठभाषी), मधुकर (भ्रमर), मधुकिरण (चंद्रमा), मधुकोष (मधु का छत्ता), मधुजा (पृथ्वी) मधुजित् (विष्णु), मधुतृण (ईख), मधुत्रय (मधु, घृत एवं शर्करा), मधु धूलि (खांड) मधुप (भ्रमर), मधुपर्क (मधु, दधि, घृत, शर्करा एवं जल) मधुपुरी (मथुरा नगरी), मधुपुष्प (बकुल) मधुप्रिय (बलराम), मधुमक्षिका (मधुमक्खी), मधुमती, मधुमेह, मधुयष्टि (ईख), मधुयामिनी (वसंत की रात), मधुकरी (वृत्ति विशेष), मधुभार (छन्दविशेष), मधुमित्र (कामदेव), मधुछन्दस् (ऋग्वेद प्रथम मण्डल के प्रथम दश सूक्तों के रचयिता) और मधु ब्राह्मण (शतपथ ब्राह्मण के अंतर्गत पाया जाने वाला एक रहस्यपूर्ण मत), आदि शब्द अपने-अपने स्थानों पर प्रयुक्त होते हैं और इसी प्रकार 'मधुर' शब्द के संयोग से बने हुए अनेक भिन्न उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। 'मधुर' के लिए तो एक स्थल पर 'विष' कहा गया भी दीख पड़ता है[२] जो स्वभावतः उसके मौलिक अर्थ के नितांत विपरीत जाता हुआ कहा जा सकता है। फिर भी, जैसा ऊपर कहा गया है, 'मधुरोपासना' शब्द के साथ जुड़े हुए 'मधुर' का स्वभावतः वैसा कोई आशय नहीं हो सकता और न उस 'मधु' का ही कोई अभिप्राय इस प्रकार का हो सकता है जिसके आधार पर उसका निर्मित होना समझा जा सकता है। इस 'मधुर' के माधुर्य का पूर्णभाव हृदयंगम करते समय हमारे सामने किसी मधुरता और मिष्ठता अथवा अधिक-से-अधिक सौन्दर्य एवं शोभा सम्बंधी गुण विशेष की ही भावना रहा करती

---

१. वैदिक माइथौलोजी, पृ० २१२
२. सुबलचन्द्र मित्र : 'सरल बाङ्गला अभिधान' (कलिकाता, सन् १९२८), पृ० ९८४

है । यदि 'मधु' शब्द के 'दिव्य पेय' सूचक होने की ओर हमारा ध्यान जा सके तो, हम, संभवतः, 'मधुरोपासना' के उस वास्तविक लक्ष्य तक का भी संकेत पा सकते हैं जो ईश्वरीय प्रेमानुभूति का परिचायक है ।

संगृहीत निबंधों को लिखते समय मुझे कई प्रसिद्ध ग्रंथों से प्रेरणा मिली थी और उनके गूढ़ार्थ को समझने के लिए मुझे अनेक आधुनिक लेखकों की कृतियों का भी उपयोग करना पड़ा था जिसके लिए मैं उन सभी का ऋणी हूँ । इनमें दिये गए उद्धरणों में से कई एक ऐसी पुस्तकों से लिये गए हैं जो मूलग्रंथ न होकर उन पर आधारित ही कही जा सकती हैं, किंतु जिनका अपना पृथक् महत्त्व है और जो, उनके उपलब्ध न होने की दशा में, पर्याप्त तक भी समझी जा सकती हैं । 'मधुरोपासना' के विषय को लेकर इधर कई लेखकों ने उसके किसी-न-किसी अंग विशेष पर, अपनी पुस्तकें लिखी हैं और इनमें से जो उपलब्ध हो सकीं उनसे, मैंने अपने निबंधों को लिखते समय, भरसक लाभ उठाने की चेष्ठा की है । ऐसी पुस्तकों में से दो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो क्रमशः डा० भुवनेश्वर मिश्र जी 'माधव' तथा डा० भगवती प्रसाद जी सिंह की हैं और जिन दोनों का सम्बंध राम-भक्ति में पायी जाने वाली मधुरोपासना के साथ है । इन दोनों के अतिरिक्त एक ऐसी ही तीसरी पुस्तक 'मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति' नामक भी है जिसके लेखक डा० प्रह्लाद नरहरि जोशी हैं और जिसमें मराठी भक्त एवं संत कवियों की मधुरोपासना के सम्बंध में लिखा गया है । मैं इन तीनों सज्जनों का अपने हृदय से आभारी हूँ । ऐसी पुस्तकों के यथासमय प्राप्त करने में मुझे अपने अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी से बहुत बड़ी सहायता मिली है ।

—परशुराम चतुर्वेदी

प्रयाग
२१-९-'६१

भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

विविधरूपा भक्ति

भक्ति की चर्चा करते समय उसे 'श्रीमद्भागवतपुराण' के अन्तर्गत 'नवधा' अर्थात् नव विभिन्न रूपों में दीख पड़ने वाली साधना-विशेष कहा गया है। वहाँ पर तदनुसार पाये जाने वाले ऐसे प्रभेदों के नाम भी श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य एवं आत्म-निवेदन बतलाये गए हैं।[1] इनमें से 'श्रवण' का तात्पर्य, अपने इष्टदेव का, किसी अन्य द्वारा किया जाने वाला प्रशंसात्मक वर्णन सुनकर, उसकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होना और 'कीर्त्तन' का अर्थ, उसका स्वयं भी गुणगान करने लगना है तथा 'स्मरण' के लिए कहा जा सकता है कि यह उसी के नाम-रूपादि का निरन्तर स्मरण करना होगा। 'पाद-सेवन' से अभिप्राय भी, इसी प्रकार, सदा अपने इष्टदेव के सान्निध्य में रहा करना, 'अर्चन' के द्वारा उसका सदा पूजन किया करना तथा 'वंदन' की दशा में, उसका नित्यशः स्तवन वा आराधन करना कहा जा सकता है। शेष तीन के विषय में भी हम कह सकते हैं कि उनमें से 'दास्य' अपने इष्टदेव की सेवा में निरत रहना, 'सख्य' के रहते, उसके प्रति सदा अपने सुहृद एवं हितचिंतक का भाव बनाये रखना तथा 'आत्म-निवेदन' की स्थिति में, उसके समक्ष अपना सर्वस्व निछावर करना अथवा पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना हो सकता है। इसी प्रकार, उक्त नामों को वहाँ पर दिये गए विशिष्ट क्रम के आधार पर भी, हम कह सकते हैं कि, इस प्रसंग में, संभवतः किसी

---

१. **श्रवणं, कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।**
अर्चनं, वंदनं, दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
—'श्रीमद्भागवत' स्कं० ७, अ० ५, श्लोक २३

भक्त के अपने उपास्य देव के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ते जाने वाले भक्ति-भाव पर भी विचार किया गया होगा। इस कारण, यदि हम चाहें तो, उन्हें उनके विषयानुसार तीन पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित भी कर सकते हैं। फलतः हम यह भी कह सकते हैं कि 'श्रवण' 'कीर्त्तन' एवं 'स्मरण' की दशाओं में जहाँ किसी भक्त का अपने इष्टदेव के समक्ष उपस्थित रहना आवश्यक नहीं है, वहाँ 'पाद-सेवन', 'अर्चन' एवं 'वंदन' की उपासना के अवसरों पर, उसका उसके सान्निध्य में बना रहना कदाचित् अनिवार्य माना जा सकता है। इसी प्रकार, अंतिम तीन के विषय में भी कहा जा सकता है कि उन स्थितियों में किसी भक्त के प्रति उसके इष्टदेव की ओर से न्यूनाधिक प्रतिक्रिया भी अपेक्षित समझी जाती होगी। इस प्रकार, 'आत्म-निवेदन' स्वभावतः सबसे अंतिम एवं सर्वोत्कृष्ट प्रक्रिया मान लिया जाता होगा।[1]

भक्ति के विषय में इसके आचार्य कहे जाने वाले नारद एवं शांडिल्य ने भी अपने-अपने भक्ति-सूत्रों द्वारा कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखने की चेष्टा की है और इनमें से दूसरे ने जहाँ इसे ईश्वर के प्रति 'परानुरक्ति'[2] कहा है, वहाँ प्रथम ने इसका उसी के प्रति 'परम प्रेमरूपा' एवं 'अमृत-स्वरूपा'[3] भी होना बतलाया है। नारद का तो यह भी कथन है कि भक्ति 'एकादशधा' अर्थात् ग्यारह विभिन्न रूपों में दीख पड़ती है। इन्हें उन्होंने क्रमशः 'गुणमाहात्म्यासक्ति', 'रूपासक्ति', 'पूजासक्ति', 'स्मरणासक्ति', 'दास्यासक्ति', 'सख्यासक्ति,' 'कांतासक्ति', 'वात्सल्यासक्ति', 'आत्मनिवेदनासक्ति', 'तन्मयतासक्ति' एवं 'परमविरहासक्ति' के नाम दिये हैं तथा वे इस बात को अन्य आचार्यों

---

१. इसके समर्थन में देखिये, वही, श्लोक २४

२. "सा परानुरक्तिरीश्वरे"—शांडिल्यभक्ति-सूत्र २

३. "सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृत स्वरूपाच"—नारदभक्ति-सूत्र २–३

द्वारा प्रमाणित करते हुए भी जान पड़ते हैं।[१] नारद की 'स्मरणासक्ति', 'दास्यासक्ति', एवं 'सख्यासक्ति' ठीक 'श्रीमद्भागवत' के क्रमशः 'स्मरण', 'दास्य' एवं 'सख्य' का अनुसरण करती जान पड़ती हैं। इनकी 'पूजासक्ति' के अन्तर्गत उसके 'पाद-सेवन', 'अर्चन' एवं 'वंदन' का समावेश किया जा सकता है। यदि इनकी 'गुणमाहात्म्यासक्ति' के साथ इनकी 'रूपासक्ति' का भी सम्बंध जोड़ा जा सके तो, इसमें उसके 'श्रवणं' एवं 'कीर्त्तनं' दोनों को ही अंतर्भुक्त कर दिया जा सकता है। इसी प्रकार यदि इसकी 'आत्मनिवेदनासक्ति', 'तन्मयतासक्ति', 'कांतासक्ति', 'वात्सल्यासक्ति' एवं 'परमविरहासक्ति' को भी एक साथ ले लिया जा सके तो, ये सभी उसके 'आत्म-निवेदन' के अन्तर्गत समाविष्ट हो जा सकती हैं और इस प्रकार उपर्युक्त दोनों तालिकाओं वाले नामों के मूल में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं आ सकता। वास्तव में जिस प्रकार 'तन्मयतासक्ति' एवं 'परमविरहासक्ति' में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं लक्षित होता और ये दोनों ही 'आत्मनिवेदनासक्ति' के भीतर लायी जा सकती हैं, उसी प्रकार 'कांतासक्ति' एवं 'वात्सल्यासक्ति' भी उसके केवल दो उत्कृष्ट उदाहरण मात्र ही समझी जा सकती हैं। स्पष्ट है कि नारद का उपर्युक्त विभाजन उतना वैज्ञानिक नहीं जान पड़ता जितना 'श्रीमद्भागवत' का है और न यहाँ पर कोई स्वाभाविक क्रम ही दिया गया है जैसा वहाँ दीख पड़ता है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यहाँ पर भी हम वस्तुतः 'आत्मनिवेदन' को ही किसी-न-किसी प्रकार, विशेष महत्त्व दिया गया पाते हैं। नारद ने भक्ति को 'शाश्वत परमप्रेम' के रूप में देखा है जिस कारण 'आत्म-निवेदन' का भाव उनकी दृष्टि में आपसे-आप महत्त्व ग्रहण कर लेता है। अतएव, यह भी आश्चर्य नहीं कि तदनुसार 'आत्म-निवेदन' को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा में ही, उन्होंने इसके कतिपय भिन्न-भिन्न रूपों की अवतारणा भी कर दी हो।

---

१. वही, सूत्र ८२–८३

आत्मनिवेदनपरक भक्ति के विषय में विचार करते समय हमारे सामने उसकी सबसे बड़ी विशेषता 'अनन्यता' के रूप में आती है। अनन्यता के कारण न केवल कोई भक्त अपने इष्टदेव के प्रति पूर्ण रूप से उन्मुख हो जाता है, अपितु इसके साथ ही अन्य आश्रयों की ओर से उसकी उदासीनता भी बढ़ने लग जाती है जिसका परिणाम, अन्त में, उनके पूरे परित्याग तक में लक्षित होता है। उसके सामने केवल एक ही चेष्टा बनी रहा करती है कि मैं किस प्रकार अपने उपास्यदेव के प्रति पूर्ण तन्मयता का भाव प्राप्त कर लूँ। वह उसमें आचूड़ निमग्न होकर उसके 'तदीयत्व' के पद को भी उपलब्ध कर लेना चाहता है जिससे, अंत में, उसका 'अपना' कहलाने योग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता। उसमें इस बात का दृढ़ विश्वास बना रहता है कि मैं अपने इष्टदेव द्वारा निःसंदेह अपना लिया जा रहा हूँ तथा उसका प्रेम भी मेरे ऊपर कम नहीं है। अतएव, इस प्रकार की भक्ति में अन्योन्याश्रयता एवं समरसता के अंश भी प्रचुर मात्रा में रहा करते हैं। इसके सिवाय, विशुद्ध आत्मनिवेदन की दशा में, इन सबके साथ एक ऐसी 'स्वाभाविकता' का भी आ जाना आवश्यक है जिससे उक्त अन्योन्याश्रयता में किसी प्रकार के एकांगीपन का भाव न लक्षित हो सके और न किसी ऐसे आचरण का ही बोध हो सके जिसमें कृत्रिमता वा विधि-निषेध को प्रश्रय देना पड़ जाता है। उदाहरण के लिए 'दास्य' एवं 'वात्सल्य' की दशाओं में किसी भक्त और उसके इष्टदेव के बीच पूर्णतः समान स्तर की भावना को प्रश्रय नहीं मिला करता। जहाँ तक देखा गया है, सख्य भाव की स्थिति में भी अधिकतर वैसी अवस्था नहीं आ पाती, छुटप्पन-बड़प्पन के भाव यहाँ प्रायः आ ही जाया करते हैं। यहाँ तक कि वात्सल्य भाव की अहेतुकता-निष्कामता के भाव भी अपने उपास्य के समक्ष कभी अपना शुद्ध रूप कायम नहीं रख पाते। केवल दांपत्य भाव की दशा में ही इस प्रकार की सारी कमियों के आप-से-आप दूर हो जाने की संभावना रहा करती है। इसी कारण, यहाँ पर विधि-निषेध के प्रति वह निरपेक्षता तथा अपने आचरण की वह स्वच्छंदता भी आ जाती है जो किसी अन्य उपर्युक्त दशा

में संभव नहीं है। यहाँ पर सारी बातें विशुद्ध और अमिश्रित-सी जान पड़ती हैं, जिस कारण ऐसे भक्त का हृदय पूरे उमंग से भर जाता है तथा वह उन्मत्त तक बन जाता है।

नारद ने, अपने सूत्रों द्वारा परमप्रेमरूपाभक्ति का लक्षण बतलाते समय, कहा है, "वह, अपने अशेष कर्मों को भगवान् के प्रति अर्पण करने तथा, उनके किंचिन्मात्र भी विस्मृत हो जाने पर परम व्याकुल भी हो जाने में दीख पड़ती है। वह ठीक उसी प्रकार की है जैसी व्रज की गोपियों की भक्ति में देखी जाती है।"[१] जो न केवल उनकी 'आत्मनिवेदनासक्ति' की ओर संकेत करता है, अपितु इसमें उनकी उस 'परमविरहासक्ति' का भी समावेश आप-से-आप हो जाता है जो वस्तुतः उनकी 'कांतासक्ति' के साथ चला करती है। आत्म-निवेदन का भाव, अपने हृदय को पूर्णरूप से निरावृत कर अपने इष्टदेव के ऊपर सर्वथा आश्रित हो जाने में देखा जाता है।" आत्म-निवेदन वाले भक्त का, सिवाय अपने उपास्यदेव के, किसी अन्य के साथ कुछ भी लगाव नहीं रह जाता और न उसके किसी यत्न का लक्ष्य, सिवाय उसकी रुचि के अनुसार चलने के, कभी कुछ और प्रकार से करना हो सकता है। ऐसे भक्त का अपना कोई भी स्वार्थ नहीं और न उस पर कोई बंधन ही हो सकता है। गोपियाँ व्रज के विभिन्न परिवारों की स्त्रियाँ थीं और उनमें से अधिकांश अपने-अपने यहाँ विवाहिता भी थीं, जिस कारण सामाजिक नियमों के अनुसार हम किसी भी प्रकार, उन्हें श्रीकृष्ण के प्रति कांता की भाँति अनुरक्त होने योग्य नहीं ठहरा सकते। इसीलिए उन्हें उनको 'परकीया' भी कहा जाता है। परन्तु, सब कुछ होते हुए भी, उन्होंने न केवल अपने निकट सम्बन्धों को ही तोड़ डाला, अपितु अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन कर श्रीकृष्ण को अपना भी लिया। उनका अपना कुछ भी नहीं रह गया और वे अपने उस प्रियतम के प्रति इतनी अनुरक्त हो गयीं कि उन्हें उनका क्षणिक विरह भी सभी प्रकार असह्य हो उठा। शांडिल्य ने

---

१. नारदभक्तिसूत्र १९-२१

भी, अपने सूत्रों द्वारा 'परानुरक्ति' की चर्चा करते समय, प्रेम के भेदों में 'इतरविचिकित्सा', 'तदर्थ प्राणस्थान', 'तदीयता', 'तद्भाव', 'अप्रतिकूल्यादि' के नाम लिये हैं।[1] तथा इन व्रज वधूटियों के ही लिए कहा है कि इस प्रकार की भक्ति के कारण, "व्रज वनिताओं ने किसी अन्य प्रकार के साधनों के अभाव में भी, मुक्ति प्राप्त कर ली"[2] जिस उक्ति द्वारा भी 'आत्म-निवेदन' की ही महत्ता का समर्थन होता जान पड़ता है। इसके आधार पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण उक्त गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति उस प्रेमाभक्ति में ही मिलता है जो 'मधुरोपासना' कहला कर भी प्रसिद्ध है।

मधुरोपासना

'मधुरोपासना' के पूर्वांश 'मधुर' का सम्बंध 'मधु' शब्द के साथ जान पड़ता है जो शहद का पर्याय है। यह मधु विविध, सुन्दर, सुस्वादु एवं सुगंधित फूलों का वह रस होता है जिसे मधुमक्खियाँ संगृहीत किया करती हैं और जो सर्वथा मिष्ठ, स्वादिष्ट एवं रुचिकर होने के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य के अन्तर्गत 'मधु' शब्द स्वयं परमात्मा के लिए भी व्यवहृत होता आया है तथा 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर ऐसा भी प्रसंग आता है कि दध्यङ अथर्वण ने स्वयं मधुब्रह्म से सम्बद्ध ज्ञान को अश्विनी कुमारों के प्रति 'मधुविद्या' के रूप में ही दिया था[3] जिस बात की चर्चा पीछे 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में भी की गयी पाई जाती है।[4] 'वृहदारण्यक' के द्वितीय अध्याय वाले पाँचवें 'ब्राह्मण' के अन्तर्गत 'मधुविद्या' का विस्तृत वर्णन किया गया

१. शांडिल्य भक्तिसूत्र, ४४
२. वही, १४
३. "दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाच" ऋग्वेद, १-११६-१२
४. 'वृहदारण्यकोपनिषद्', अ० २, ब्रा० ५, मं० १६-९।

भी मिलता है, जहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार यह पृथ्वी सभी भूतों के लिए मधु रूप है और सभी भूत उसके लिए मधु हैं तथा जो उसमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह अध्यात्म शरीर तेजोमय अमृत पुरुष है। वह आत्मा से अभिन्न है और जिस प्रकार ऐसा ही कथन क्रमशः जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य एवं मानुष के लिए भी किया जा सकता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी सभी भूतों का मधु और अधिपति है और ये सभी उसके मधु हैं तथा ये उसके प्रति समर्पित भी हैं।[१] इसी प्रकार 'अथर्ववेद' के प्रथम काण्ड के ३४वें सूत्र में भी ऐसे ही ब्रह्म-ज्ञान को, 'मधुलता' के दृष्टांत द्वारा समझाने की चेष्टा की गई जान पड़ती है।[२] फलतः कहा जा सकता है कि वास्तव में, परमात्मा ही सभी कुछ का सारतत्त्व है, वही सबका अंतिम लक्ष्य है तथा वही सच्चा परमानन्द भी है। उसमें लीन होना सभी के लिए परम ध्येय हो जाना चाहिए तथा उसके साथ मिलन की चेष्टा ही सबके लिए निःस्वार्थ रूप का 'मधुर भाव' कहला सकती है।[३] यही तत्त्वतः वह ब्राह्मी स्थिति है जिस का वर्णन 'श्रीमद्भगवद्गीता' में किया गया है[४] और जिसकी अनुभूति भी प्रायः श्रृंगारिक जैसी ही बतलायी जाती है।[५]

भक्ति और काम

'वृहदारण्यकोपनिषद्' में जहाँ पर कहा गया है, " जिस प्रकार

---

१. वही, मं० १-१५
२. 'अथर्ववेद' कांड १ सूक्त ३४, मं० १-२। इस प्रसंग में देखिये 'मधुभूमिका' शब्द भी (पातंजल योगसूत्र ५१ तृ० पा० पर व्यास भाष्य)
३. Swami Mahadevananda Giri: Vedic Culture (University of Calcutta, 1947) p. 361.
४. 'श्रीमद्भगवद्गीता' अ० २, श्लो० ५५-७२
५. 'वृहदारण्यकोपनिषद्', अ० ४, ब्रा० ३, मं० २१

अपनी प्रिया भार्या द्वारा आलिंगित पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रज्ञात्मा द्वारा आलिंगित हो जाने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का ही।"[१] वहाँ, इस प्रकार की स्थिति को फिर इस पुरुष का 'आप्तकाम', 'अकाम' एवं 'शोकशून्य' रूप हो जाना भी बतलाया गया है, जिस कारण कहा जा सकता है कि वहाँ पर, 'एवमेव' (अर्थात् इसी प्रकार) तथा 'अकाम' (अर्थात् कामरहित) शब्दों के आ जाने के कारण, 'कामवृत्ति' को कोई स्पष्ट महत्त्व दिया गया नहीं हो सकता, प्रत्युत वहाँ इसके विपरीत भाव का आ जाना तक भी समझा जा सकता है। 'ऋग्वेद' के कुछ स्थलों पर भी, इसी प्रकार, "अनवद्या पतिजुष्टेव नारी"[२] (अर्थात् अपने पति के प्रति प्रेमासक्त अनिन्दनीय पत्नी की भाँति) अथवा 'जायेव पत्यउशती सुवासाः"[३] (अर्थात् पति की प्रसन्नता तथा उसके आकर्षण के निमित्त जिस प्रकार कोई कामिनी अपने को सुन्दर शृंगारों द्वारा सुसज्जित किया करती है) इसी प्रकार जैसे वाक्यों के प्रयोग मिलते हैं जो अधिकतर, दृष्टांतवत्, सादृश्य सूचक ही समझ पड़ते हैं। फिर भी उक्त उपनिषद् के

१. "तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो वाह्यं किञ्चनवेद नान्तर मेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं तद् वा अस्यैतदाप्तकाममाप्तकामम्कामरूपं-शोकान्तरम्" (वृह० अ०४, ब्रा०३, मं० २१)।

Compare also ". . . . no psychologist can fail to see that love of God and the libido have the same mechanisms and that religious and sex normality and abnormality are very closely connected."— Stanly Hall quoted in Theory and Art of Mysticism by Radhakamal Mukerji (Asia Publishing House Bombay) p. 127.

२. ऋग्वेद, १-७३-३।

३. वही, १०-७१-४ ; वही, १-६२-११ भी।

ही कुछ अन्य स्थलों द्वारा जान पड़ता है कि वैसे ग्रन्थों के रचना-काल वाले युग में सम्भवतः, यौनसुलभ कामवृत्ति के प्रति भी किसी प्रकार की उपेक्षा का भाव नहीं प्रदर्शित किया जाता था और न उसे हेय ही माना जाता था। उसकी कल्पना स्वयं प्रजापति की सृष्टि-रचना-सम्बंधी मूलप्रवृत्ति का वर्णन करते समय तक भी कर ली जाती थी। उदाहरण के लिए उसके प्रथम अध्याय वाले चौथे 'ब्राह्मण' के तीसरे मंत्र में आया है, "वह (प्रजापति) रममाण नहीं हुआ, जैसे एकाकी पुरुष भी रममाण नहीं होता और न उसने किसी दूसरे की भी इच्छा की। वह जिस प्रकार परस्पर आलिंगित स्त्री एवं पुरुष होते हैं वैसे ही परिमाण वाला हो गया और उसने इस अपनी देह को दो भागों में विभक्त कर डाला, जिससे पति और पत्नी के रूप हो गए।......फिर वही उस स्त्री से संयुक्त भी हुआ और, इस प्रकार, मानव-जाति की सृष्टि हुई"[१] तथा इसके आगे आने वाले मंत्र में भी इसी प्रकार क्रमशः गो, अश्व, गर्दभ एवं बकरे की भी सृष्टि का प्रसंग दीखता है।[२] वास्तव में, 'काम' की प्रवृत्ति को आगे चलकर भारत में मानव-जाति के चार पुरुषार्थों (अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) में भी स्थान दिया गया।

सृष्टि का पुरुष एवं स्त्री के मैथुन द्वारा अस्तित्व में आना कई अन्य देशों के लोगों के यहाँ भी मान्य रहता आया है। जापानी शितो धर्म के अनुयायियों के अनुसार, प्रसिद्ध है कि सृष्टि-रचना का आरम्भ पहले दो स्वर्ग-निवासी व्यक्तियों के यत्नों से ही हुआ था। "दोनों देवताओं ने, 'ओना गोरो जिमा' नामक टापू पर उतर कर, वहाँ पर आठ

---

१. "सवै नैव रेमे तस्मादेकाकीन रमते स द्वितीय मैच्छत्। स हैतावा-नास यथा स्त्री पुमां-सौ परिष्वक्तौ स इममेवात्मांनं द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नीचाभवतां... समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त"—'बृह-दारण्यकोपनिषद्', अ० १ ब्रा०४, मं० ३

२. वही, अ० १, ब्रा० ४, मं० ४

'फ़ैदम' का गृह-निर्माण किया जिसके मध्य में एक विशाल स्तंभ बनाया गया। तब 'इज़ानागी (उन दोनों में से पुरुष) ने, 'इज़ानामी' (उनमें से स्त्री) से पूछा, "तुम्हारा शरीर किस प्रकार निर्मित है ?" जिसके उत्तर में उस स्त्री ने बतलाया "मेरा शरीर पूरा-पूरा बन चुका है, इसका केवल एक अंग अधूरा लगता है ।" तब 'इज़ानागी' ने कहा, "मेरा शरीर भी पूरा-पूरा बन चुका है और इसका केवल एक अंग ऐसा है जो अतिरिक्त वा व्यर्थ-सा जान पड़ता है ।" 'इजानामी' ने तब कहा "यह ठीक है" । फिर 'इज़ानागी' ने उससे कहा, "आओ, तुम और मैं दोनों ही इस दिव्य एवं विशाल स्तंभ की परिक्रमा करें और इसकी दूसरी ओर जाकर पति एवं पत्नी बन जायँ । तदनुसार, इस पर सहमत हो जाने पर, उसने फिर कहा "तुम बाँयीं ओर से घूमो और मैं दाहिनी ओर जाऊँगा ।" जब वे दोनों, चक्कर लगाते हुए, एक-दूसरे से मिले तो, 'इज़ानामी' ने, सर्वप्रथम, उल्लासपूर्वक कहा, "क्या ही आनन्द की बात है ! मुझे एक सुंदर युवक मिल गया ।" और तब 'इज़ानागी' ने भी कहा "क्या ही आनन्द की बात है । मुझे एक सुन्दर युवती मिल गई ।"[१] और इस प्रकार मैथुनी सृष्टि का उपक्रम हो गया । ईसाइयों तथा मुसलमानों द्वारा मान्य आदम एवं हौआ-सम्बंधी सृष्टि-रचना की कथा कई देशों में प्रसिद्ध है और उसके अनुसार भी वस्तुतः यही कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम किसी-न-किसी पुरुष एवं स्त्री के परस्पर संयोग द्वारा ही मानव-जाति का आरंभ हुआ । आदम एवं हौआ का पहले नितांत नग्न वेश में ही रहा करना, तथा कदाचित् शैतान के बहकावे में ही आकर उनका अपने शरीर पर किसी प्रकार का आवरण धारण करना, अथवा लज्जादि का अनुभव तक करने लगना बतलाया जाता है । 'कुरान शरीफ़' में की गयी आदम की चर्चा से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें सर्वप्रथम पैग़ंबर तक समझा जा सकता है । वहाँ पर

१ **Alban G. Widgery: The Comparative Study of Religions (Baroda, 1922) pp. 101-2.**

स्वर्गदूतों तक से कहा गया मिलता है कि वे उनके सामने अपना सिर झुकाएँ और उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम करें जिसके अनुसार वे करते भी पाये जाते हैं।[1] इस प्रकार उनके विषय में उपर्युक्त ढंग की चर्चा करना, धार्मिक दृष्टि से भी कोई अपराध नहीं समझा गया जान पड़ता।

लिंगोपासना

संसार की विभिन्न जातियों का प्राचीन इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि उनमें से कई के यहाँ पहले लिंगोपासना तक प्रचलित रही है। ऐसे उपासकों का ध्यान कभी इस बात की ओर नहीं जाता रहा है कि इसके कारण वे किसी प्रकार के अनौचित्य का बोध करें। मिस्र देश के प्राचीन देवताओं में एक प्रमुख नाम ओसिरिस का आता है जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह पहले वहाँ का एक राजा था जो भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए सदा प्रोत्साहन दिया करता था तथा इसके प्रचार में वह प्रायः पर्यटन भी किया करता था। एक बार जब वह अपने इस भ्रमण-कार्य से लौटा तो उसे पता चला कि मेरे भाई 'टायफ़ोन' ने मेरी अनुपस्थिति में राजद्रोह फैला रखा है और वह उसका नाश भी चाहता है। तदनुसार 'टायफ़ोन' ने ओसिरिस को किसी प्रकार धोखे में एक धनभांड के भीतर बन्द करा दिया और उस पर पिघला हुआ गर्म शीशा उड़ेल कर उसे नील नदी में प्रवाहित कर दिया जिससे उसका कुछ भी पता न चल सके। परन्तु ओसिरिस की पत्नी आइसिस ने उस धनभांड को बहुत प्रयत्न करके फ़िनीशिया देश में पा लिया और वह फिर उसे कहीं छिपा कर अपने पुत्र होरस से मिलने चली गयी। इधर टायफ़ोन को वह धनभांड एक बार फिर हाथ लग गया और उसने उसमें निहित ओसिरिस के शव को निकाल कर उसके २६ टुकड़े कर डाले। उसने उन्हें इधर-उधर फेंक दिया जिस पर आइसिस को मार्मिक कष्ट पहुँचा

१. 'क़ुरान शरीफ़' पारा १४, सूरेहिज्र, आयत २८-३०

और उसने पुनः यत्न करके उन्हें पा लिया तथा उसने उन पर पृथक्-पृथक् स्मारक भी बनवा दिये जिसके द्वारा किसी प्रकार उनकी रक्षा हो सकी। फिर भी संयोगवश आइसिस को ओसिरिस के शरीर का शिश्न वाला अंश नहीं मिल सका था जिस कारण उसने उसकी प्रतिकृति के रूप में अंजीर के काष्ठ का एक लिंग बनवा दिया जिसे (Phallus) लिंग कहा जाने लगा और जिसके प्रति विशिष्ट श्रद्धा-प्रदर्शन के लिए तथा जिसकी पूजा के लिए आदेश निकाला गया। फलतः मिस्र देश के निवासियों की दृष्टि में, उस दिन से लिंगोपासना वा शिश्न-पूजा अपने धर्म का एक आवश्यक अंग बन गयी। कहते हैं, वहाँ के लिंगोपासकों की धार्मिक भावना में कभी किसी कामुक प्रवृत्ति वा अपवित्र विचार का लेशमात्र भी नहीं आ सका और इस प्रकार की पूजन-पद्धति लगभग एक ही ढंग के साथ ईसा की चौथी शताब्दी तक प्रचलित चली आयी।[१] कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि प्राचीन मिस्र में कृषि-कार्य का प्रारम्भ उस युग में हुआ था, जब 'मातृकुल' की प्रथा प्रचलित थी और, इसी कारण, वहाँ पर यौन उपादान पुरुष-लिंग न होकर सम्भवतः स्त्री-योनि के रूप में ही था और कौड़ी को योनि के आकार-सा मिलता-जुलता पाकर उसे बहुत-सी दैवी शक्तियों से युक्त भी समझा जाने लगा था। लिंग-पूजा पीछे प्रचलित हुई।[२] यह योनि का प्रतीक मिस्र की भाँति ही कतिपय अन्य देशों में भी स्वीकार किया गया होगा, क्योंकि कौड़ी के सम्बंध की धारणा यहाँ भारत में भी लक्ष्मीपूजा के अवसर पर, लक्षित होती है तथा इसकी दिव्य शक्ति के ही कारण यहाँ बच्चों को यह पहनायी तक जाती आई है। उड़ीसा के बाथुरियों में भी विवाह के अवसर पर वर-कन्या के बीच कौड़ी खेलने की प्रथा प्रचलित है।[३]

---

१. **H. Cutner: A Short History of Sex Worship (London, 1905) pp. 7-8.**

२. **Bertrand Russel: Marriage and Morality p 32.**

३ **N. N. Vasu: The Modern Buddhism etc. p. 30.**

Phallus शब्द मूलतः, इब्रानी वा हिब्रू जान पड़ता है जिसका अर्थ "वह फोड़कर निकलता है" वा "अन्दर घुसेड़ता है" कहा जा सकता है। इसके विभिन्न रूप अन्य कई भाषाओं में भी उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि इसकी पूजा (अर्थात् Phallic Worship = लिंगोपासना) का सर्वप्रथम उद्देश्य उर्वरत्व की वृद्धि ही रहा होगा और यह बात ओसिरिस की उपर्युक्त कथा से भी सिद्ध है। प्राचीन लोगों ने, संभवतः इस मूल तथ्य के ही विचार से अपने शरीर तथा पशुओं तक के शरीरों के उस अंग-विशेष को अधिक महत्त्व दिया जो प्रजनन का साधन था और अनेक देशों के अन्तर्गत उसका पूजन एवं प्रदर्शन तक कल्याणप्रद समझा गया। स्वयं मिस्र देश में ही प्रायः वृषभ, मेढ़ एवं बकरे की उपासना बहुत काल तक प्रचलित रही जो अन्त में पशु-पूजा जैसी भी लगा करती थी। कतिपय देशों में तो इस पूजन-पद्धति ने ऐसा रूप धारण कर लिया जिसके अनुसार इसका सम्बंध सूर्योपासना तक से जुड़ गया। फिर भी इसका प्रचार ग्रीस, रोम, असीरिया, बेबिलोन, अरब एवं ईरान तक में बहुत समय तक रहा और इसे सर्वत्र धार्मिक रूप ही मिला। जिस प्रकार मिस्र देश के अन्तर्गत, ओसिरिस की स्मृति में पर्व मनाते समय, पहले उसकी मृत्यु के लिए शोक मनाया जाता रहा है और उसके पुनरुत्थान के लिए फिर उत्सव भी किया जाता रहा है, उसी प्रकार अन्य देशों में भी प्रथा प्रचलित रही है। सूर्योपासकों की धारणा के अनुसार जिस समय शीत ऋतु आती है प्रकृति के सारे पदार्थ मृतक-से लगते हैं और उनमें तब तक निर्जीवता बनी रहती है, जब तक बसंत ऋतु का आगमन नहीं हुआ करता तथा सूर्य के प्रभाव द्वारा सब कहीं नये पल्लव और पुष्प नहीं निकल जाते। इस प्रकार, एक ही उर्वरत्व की भावना ने जहाँ देवों, मानवों एवं पशुओं की जननेन्द्रियों के पूजन की प्रथा को विशेष प्रश्रय दिया है, वहाँ उसी से प्रेरणा पाकर सूर्य की आराधना भी की गई है और दोनों के सम्बंध में लगभग एक ही प्रकार के उत्सवादि भी देखे जाते हैं।

'ऋग्वेद' के एकाध स्थलों पर "शिश्न देवाः" शब्द का प्रयोग हुआ है,[१-२] जिसके आधार पर प्रसंगानुसार, कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य शिश्न-पूजकों वा लिंगोपासकों को निम्न श्रेणी के व्यक्ति समझते रहे होंगे तथा वे उनके विरुद्ध भी रहते होंगे। फिर भी इससे इतना अवश्य पता चल जाता है कि सम्भवतः इस देश में भी उस समय इस प्रकार के धर्म वाले निवास करते थे, उनके साथ आर्य लोगों का किसी-न-किसी प्रकार का सम्बंध था और कदाचित् उनसे इनका संघर्ष भी चलता रहा। मोहेंजोदड़ो एवं हड़प्पा प्रभृति प्राचीन स्थलों की खोदाई द्वारा सिद्ध होता है कि "सिंधु-सभ्यता वाले प्राचीन भारतीयों को लिंग-पूजने का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि पत्थर के अण्डाकार बड़े लिंग जो वहाँ मिले हैं वे निःसन्देह ऐसी पूजा में व्यवहृत होते रहे होंगे"[३] इसके सिवाय इस खोदाई में प्रायः हर जगह आँवें में पकायी हुई मिट्टी की छोटी-छोटी स्त्री-मूर्तियाँ भी मिली हैं जो सम्भवतः, किसी देवी की हैं और उसके साथ किसी पुरुष-देवता के सम्बंध का होना भी उन चित्रों में पाया गया है जो मिट्टी की कतिपय चौकोर टिकियों पर निर्मित है। अतएव यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ पर भी कदाचित् उसी प्रकार की लिंगोपासना प्रचलित थी जैसी पश्चिमी एशिया की कही जाती है। सिंधु-घाटी में देवी की उपासना के साथ जिस पुरुष-देवता की उपासना चलती थी वह सम्भवतः उसका पति माना जाता था। इसी कारण, हम कह सकते हैं कि उसका भी सम्बंध उर्वरता के साथ ही रहा होगा तथा उसकी भी स्थिति प्रायः वैसी ही रही होगी जैसी मिस्र के ओसिरिस की थी। वह एक प्रकार से बेबिलोनिया की देवी 'इश्तर' के सहचर

---

१. ऋग्वेद, ७-२१-५

२. वही, १०-९९-३

३. केदारनाथ शास्त्री : 'हड़प्पा', (आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली १९५९, पृ० ९४)

'ताम्बुज' के जैसा भी कहा जा सकता था। इस प्रकार "जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ तब इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया।"[१] और फिर इसकी अनेक बातें रूढ़िगत-सी भी हो चलीं। यहाँ पर स्त्री-योनि के प्रतीक 'अर्घे' के आधार पर शिवलिंगों की स्थापना शिवमंदिरों में होने लगी, उन्हें भगवान् शंकर का प्रतीक समझा जाने लगा तथा छोटे-छोटे शिवलिंगों को नित्यशः शरीर पर धारण करने वालों के एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय को 'लिंगायत' की संज्ञा भी दे दी गयी।

देवदासी-प्रथा

लिंगोपासना की चर्चा करते समय हमारा ध्यान प्रसंगवश उस प्राचीन धार्मिक प्रथा की ओर भी चला जा सकता है जो हमारे देश में 'देवदासी' शब्द के साथ सम्बद्ध है तथा जो कुछ बातों में इसके साथ मिलता-जुलता भी समझा जा सकता है। 'देवदासी' शब्द का अभिप्राय प्रमुखतः उस कन्या से है जिसके माता-पिता उसे बचपन में ही किसी मंदिर के देवता को इस उद्देश्य से समर्पित कर दिया करते हैं कि वहाँ रह कर वह उसकी क्रीतदासी जैसी सेवा करेगी तथा उसे अपने नृत्य-गीतादि द्वारा सदा रिझाती भी रहेगी। यह प्रथा विशेषकर भारत के मद्रास, आंध्र एवं महाराष्ट्र में प्रचलित रहती आयी है और इसका अस्तित्व प्रायः जगन्नाथपुरी तक में भी सुना गया है। इस प्रकार की देवदासियों को महाराष्ट्र प्रदेश में "मुरली' तथा आंध्र देश में 'बसवा' का नाम दिया जाता रहा है और इन्हें मंदिरों की ओर से सदा सहायता भी दी जाती रही है। असम प्रान्त के प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि उधर की आस्ट्रिक (Austric) जाति स्त्री को परमेश्वर के लिए विशिष्ट प्रेमपात्र के रूप में देखा करती थी। इसी कारण उसे धार्मिक उत्सवों के अवसर पर,

---

१. डा० यदुवंशी : 'शैवमत' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५५ ई०), पृ० ३१

परमात्मा और मनुष्य के बीच सम्बंध स्थापित करने वाली भी समझा करती थी। अतएव, जब कभी सूखा पड़ता अथवा महामारी का समय आ जाता, नंगी स्त्री का नृत्य करना या घूमना-फिरना ऐसी विपत्तियों को दूर करने का एक बहुत बड़ा साधन भी माना जाता था। ऐसी स्त्री को देवधनि (वस्तुतः दोएधानी) कहा जाता था और ये भविष्यवाणी भी करती थीं। कहते हैं कि देवदासी की प्रथा का मूल इस आस्ट्रिक अंधविश्वास के साथ भी जोड़ा जा सकता है।[१] फिर कतिपय विद्वानों ने भूमध्य सागर के आसपास बसनेवालों का प्रभाव होने का अनुमान किया है जिनमें इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी और जिनसे समुद्री यातायात के कारण सम्पर्क होना संभव था। यह प्रथा किसी समय ग्रीस देश में भी प्रचलित थी, जहाँ की ऐसी कन्याओं को हेटायरस (Hetaires) कहा जाता था और वे वेश्याओं में भी गिनी जाती थीं। वहाँ के निवासियों की इनके प्रति किंचिन्मात्र भी निंदा की भावना नहीं रही और इन्हें वहाँ पर सुसंस्कृत स्त्रियों तक में स्थान दिया जाता था। इसी प्रकार आर्मीनिया देशके अन्तर्गत ऐसी कन्याओं को वीनस (Venus) नाम की देवी के मंदिर वाले घेरे में ही स्थान भी मिला करता था। ये प्रायः विवाह योग्य तक समझी जाती रहीं और इसके लिए वहाँ पर विदेशी यात्रियों का प्रवेश विहित था। परन्तु मिस्र, बेबिलोन आदि देशों की ऐसी प्रथा के अध्ययन से ऐसा लगता है कि इसका स्वरूप, वस्तुतः, किसी 'पवित्र वेश्यावृत्ति' का ही रहा होगा।[२] भारत की देव-दासियों के विषय में यह भी कहा गया है कि इनके माता-पिता इन्हें न केवल किसी देवता-विशेष के प्रति समर्पित ही कर देते थे, अपितु इनका

---

१ **R. M. Nath : The Background of Assamese Culture (Shillong, 1948) p. 9.**

२ **H. Cutner : A Short History of Sex and Worship, p. 63.**

उसके साथ विधिवत् विवाहानुष्ठान भी कर दिया जाता था जिस कारण ये उसे अपने पति के रूप में स्वीकार कर लिया करती थीं। इनकी शिक्षा वहाँ पर पाँच वर्ष की अवस्था से आरम्भ होकर सात वर्षों तक चला करती थी। इस प्रकार, इनके बारहवें वर्ष में, सर्वप्रथम इन्हें किसी राजा-महाराजा वा धनी-रईस के समक्ष उपस्थित कर इनसे कला-प्रदर्शन कराया जाता था तथा इन्हें पूर्ण पारितोषिक भी दिलाया जाता था।" कोई भी निवास-स्थान बिना इनके नूपुरों की झनकार के पवित्र हुआ नहीं समझा जाता था तथा इनकी आवश्यकता उन अवसरों तक पर भी पड़ती थी जब कहीं 'वाजपेय' अथवा 'महाव्रत' जैसे यज्ञों का अनुष्ठान हुआ करता था।"[१]

ईसाइयों का आध्यात्मिक विवाह

ईसाई धर्म के कैथलिक संप्रदाय में आध्यात्मिक विवाह (Spiritual Marriage) की भावना को एक विशेष महत्व प्रदान किया जाता है और उसकी व्याख्या प्रायः दाम्पत्य भाव-विशिष्ट अपरोक्षानुभूति की भाँति की जाती है। उसके अनुयायियों की धारणा के अनुसार पुरुष-तत्व स्वभावतः क्रियाशील एवं प्रभविष्णु हुआ करता है, जहाँ स्त्री-तत्व की प्रवृत्ति अधिकतर निष्क्रिय तथा ग्रहणशील होने की ही ओर देखी जाती है और इस प्रकार, ये दोनों आपस में एक दूसरे के पूरक भी माने जा सकते हैं। तदनुसार यदि हम परमात्मा को भी विशुद्ध सक्रियता का प्रतीक मान लें और जीवात्मा को उसकी इच्छाओं पर आश्रित समझ लें तो यह कल्पना कर लेना, कदाचित् अनुचित न कहा जा सके कि इन दोनों के पारस्परिक सम्बंध का रूप भी वस्तुतः पति-पत्नी का जैसा ही होना चाहिए। हम किसी एक भक्त को भगवान् के प्रति केवल उतना ही सक्रिय होता हुआ पाते हैं जितना यह उसकी महिमा वा अनुग्रह का अधिकारी

१. **Sex Life in India (Medical Book Company, Calcutta 1952) p. 89.**

बनकर उसके सन्मुख होने का यत्न करता है तथा उससे पूर्ण लाभान्वित होना भी चाहता है। उस दशा में यह अपने को उसका प्रेम-पात्र माना करता है और उसके प्रति स्वयं भी प्रेमभाव प्रदर्शित करता हुआ यह उसके सान्निध्य में बना रहना चाहता है। उसके प्रति इसकी पूर्ण निर्भरता तथा इसके आत्मनिवेदन की प्रवृत्तियों का भाव भी केवल इसी दृष्टि से सम्यक् रूप में समझा जा सकता है। इसी कारण, ईसाइयों के धर्मग्रन्थ 'बाइविल' के उस अंश में भी जो (Old Testament) अर्थात् 'प्राचीन संहिता' के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसे यहूदी धर्मवाले भी अपना धर्मग्रन्थ स्वीकार करते हैं, 'सुलेमान का गीत' अथवा 'गीतों का गीत' नामक एक ऐसी रचना पायी जाती है जिसमें परमात्मा के प्रति जीवात्मा का भक्तिभाव, 'विशुद्ध मानवीय प्रेम' जैसा चित्रित किया गया दीख पड़ता है। उसमें प्रयुक्त कतिपय वाक्यों जैसे, "उसे, स्वयं अपने मुख से, मुझे चूम लेने दो,"[१] मेरे प्रियतम ने संभाषण किया और उसने मुझसे कहा, "मेरी प्रेमपात्री, मेरी सुन्दरी, उठो और चली आओ,"[२] "मेरा प्रियतम श्वेत एवं अरुण है और वह दस सहस्र में भी सर्वप्रमुख है"[३] तथा "मैं अपने प्रियतम की हूँ और वह मेरी ओर चाह भरी दृष्टि से उन्मुख है"[४] द्वारा यह प्रतीत होते विलम्ब नहीं लगता कि ये संभवतः कांताभाव से ही कहे गए होंगे।

संट बर्नार्ड (सन् १०९०–११५३ ई०) नामक प्रसिद्ध ईसाई संत ने उपर्युक्त "उसे स्वयं अपने मुख से मुझे चूम लेने दो" वाक्य की व्याख्या

---

१. **Let him kiss me with the kisses of his mouth.**
The Books of the old Testament,
The Song of Solomon. Chapter 1-2.

२. **My beloved spake, and said unto me, Rise up. My love, my fair one, and come away. Chapter 2-10**

३. **My beloved is white and reddy, the chiefest among ten thousand. Chapter 5-10.**

४ **I am my beloved's, and his desire is toward me. Chapter 7-10.**

करते समय अपने एक 'धर्मोपदेश' (Sermon) के प्रसंग में बतलाया है कि इन शब्दों को व्यक्त करने वाली, वस्तुतः, 'वधू' (Bride) है जो जीवात्मा का प्रतीक है और जिस व्यक्ति के लिए ये शब्द कहे गए हैं, वह उसका 'वर' (Bridegroom) है जो यहाँ पर 'ईश्वरीय शब्द' (Divine Word) का प्रतीक बनकर आया है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जो यहाँ पर अनुरोध कर रही है वह अपने को उस प्रेम बन्धनपाश में बद्ध कर चुकी है जिसका मूल उत्स केवल परमात्मा ही हो सकता है।[१] संट बर्नार्ड प्रेमाभक्ति के उपासक संत थे जो यीशुख्रीष्ट, और विशेषकर उनके उस रूप के प्रति जो उनके बलिदान के अवसर का था पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव रखते थे। तदनुसार उन्होंने अपने उस इष्टदेव के प्रति किसी अलौकिक विवाह-सम्बंध की स्थापना की भी कल्पना करली थी तथा, उन्हें, 'ईश्वरीय शब्द' के रूप में एक दिव्य दुलहा स्वीकार करके उनके साथ जीवात्मा के आध्यात्मिक परिणय का उन्होंने प्रचार भी किया। उनका मंतव्य यह जान पड़ता है कि परमात्मा को हम अपना प्रभु वा स्वामी स्वीकार करते हुए उसकी ओर से भय का अनुभव कर सकते हैं अथवा उसका पूजन एवं सेवा भी कर सकते हैं तथा, यदि हम चाहें तो, उसे अपने पिता का पद प्रदान करके उसके लिए श्रद्धाभाव प्रदर्शित कर उसकी सुश्रूषा मात्र कर सकते हैं। हम उसके प्रति उस गूढ़ प्रेमभाव का कभी प्रदर्शन नहीं कर सकते जो उसे अपना प्रिय दूलह मान कर ही किया जा सकता है।

इस आध्यात्मिक विवाह-सम्बंध अथवा अलौकिक परिणय से अभिप्राय यह नहीं कि यहाँ पर किसी वर एवं वधू का विधिवत् पाणिग्रहण संस्कार हुआ करता है और ऐसे दो व्यक्तियों का जीवन कभी प्रत्यक्ष जगत् में हमें देखने को मिलता है। यह संयोग वा लगाव कभी किन्हीं दो भौतिक शरीरों की अपेक्षा भी नहीं करता। यह सर्वथा अंतर्वृत्तिमूलक

१. Evelyn Underhill : Mysticism (New York, 1955) pp. 137-8.

एवं अनुभूतिपरक है। ईसाई संतों की रचनाओं के अन्तर्गत इसके पूर्ण विकास के लिए चार भिन्न-भिन्न सोपानों की कल्पना की गई मिलती है और उन्हें वहाँ पर क्रमशः मंगनी (Betrothal), विवाह (Marriage), ग्रन्थिबन्धन (Wedlock) एवं संयोग (Copulation) जैसे उपयुक्त नाम भी दिये गए हैं। परन्तु ये सभी केवल क्रमिक प्रेमानुभूति के ही परिचायक हैं जो किसी साधक की अंतरात्मा में आरम्भ होकर उत्तरोत्तर अधिक एवं प्रौढ़ होती चली जाती है तथा जो, अंत में, उसके परमात्म-मिलन जनित आनन्द की उपलब्धि में बहुधा परिणत भी हो जाया करती है। उस आनन्द की मात्रा का यथेष्ट वर्णन उन व्यक्तियों द्वारा भी कभी नहीं हो पाता जो स्वयं इस प्रकार आनंदित होते हैं। जो, इसी कारण, प्रायः विभिन्न सादृश्यमूलक दृष्टांतों की चर्चा द्वारा इसका कुछ न कुछ परिचय देने के यत्न किया करते हैं। इन संतों के अनुसार, इस प्रकार की स्थिति के आ जाने पर, हमारी सारी विषयासक्तियाँ उस गूढ़ प्रेम की ज्वाला में आपसे आप जल कर भस्म हो जाती हैं अथवा उक्त प्रकार से परमात्मा द्वारा प्राप्त गाढ़ालिंगन की उष्मता में जीवात्मा निखर कर स्वयं विशुद्ध कांचन बन जाया करती है। जिस प्रकार जल का बूँद मदिरा में पड़कर घुलमिल जाता है, लोहे का टुकड़ा अग्नि में तपाया जाकर ठीक उसी का रूप धारण कर लेता है तथा जिस प्रकार सूर्य की किरणों के संवर्त्त में सारा वायुमण्डल आलोकित हो उठता है, उसी प्रकार जीवात्मा में भी एक अपूर्व परिवर्त्तन की दशा आ जाती है और तत्त्वतः एकाकारता ग्रहण कर लेने के कारण उसका दैवीकरण (Deification) तक हो जाया करता है। अतएव सेंट बर्नार्ड ने कहा है, "मेरा मेरापन स्वयं परमेश्वर है जो मेरी सत्ता एवं मेरा उल्लास भी है, मैं जीवित हूँ, किन्तु मैं नहीं, मुझमें यीशुख्रीष्ट जीवित है" और इस कथन द्वारा हमें उनके प्रेमोन्माद एवं परमानन्द का कुछ पता चल जाता है।[१]

१. **P. N. Srinivasachari: Mystics and Mysticism (Madras, 1951) p. 286.**

सेंट बर्नार्ड के अनन्तर आने वाले प्रमुख ईसाई संतों में से सेंट जॉन ऑफ़ रुइस ब्रोक (सन् १२९३–१३८१ ई०) ने भी आध्यात्मिक विवाह की भावना को विशेष महत्व दिया है। इन्होंने भी जीवात्मा के परमात्मा के साथ मिलन का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है। परन्तु इनका कहना है कि यह संयोग सर्वदा एकरस बना नहीं रह पाता। इसमें प्रायः वियोगावस्था के भी अवसर आ जाया करते हैं। इनके अनुसार वह दुलहा परमात्मा अपनी दुलहिन जीवात्मा की ओर से बीच-बीच में अपने को खींच-सा लिया करता है। जिस कारण, उसके क्षणिक वियोग में भी इसे बेचैन हो जाना पड़ता है और इसका दुख प्रायः असह्य तक हो उठता है। सेंट जॉन ने इस विचित्र विरहावस्था की अवधि को अँधेरी रात (Dark Night) का नाम दिया है और बतलाया है कि किस प्रकार यह किसी साधक की स्थिति में निरन्तर होते रहने वाले प्रवाह एवं परावर्त्त (Flux and Reflux) की प्रक्रियाओं को सूचित करती है। सेंट टेरेसा (सन् १५१५-८२ ई०) ने भी अपने को परमात्मा की दुलहिन होने की चर्चा की है और एक स्त्री होने के कारण उसका कथन भी स्वाभाविक लगता है। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि वह एक विचित्र स्वर्गीय प्रदेश की निवासिनी है। उसका कहना है कि जिस समय परमात्मा जीवात्मा का आलिंगन कर लेता है इसकी सारी सुध-बुध खो जाया करती है और यह सचमुच उसमें मिल जाता है। सेंट टेरेसा ने यह भी बतलाया है कि हमारी प्रार्थनाएँ चार प्रकार की होती हैं जिनमें से पहली केवल मानसिक हुआ करती है, दूसरी शान्तिपरक होती है, तीसरी सम्मिलन की होती है और चौथी के समय हमें वस्तुतः स्वयं कुछ भी नहीं करना पड़ता। हम उसमें क्रमशः अपने को खो-सा देते हैं। हम जगत् की ओर से घोर निद्रित-से बनकर केवल परमात्मा में ही जागृत रहा करते हैं।[1] सेंट टेरेसा के प्रसिद्ध अनुयायी सेंट जॉन ऑफ़ दि क्रास (सन् १५४२–९१ ई०) ने उपर्युक्त 'अँधेरी

१. **P. N. Srinivasachari: Mystics and Mysticism (Madras, 1951) p. 289.**

रात' की व्याख्या बड़े सुन्दर ढंग से की है और अपनी इसी नाम की एक रचना द्वारा यह बतलाया है कि किस प्रकार इसके अनन्तर वह स्थिति भी आ जाती है जब हमें आध्यात्मिक अनुभूति आनन्द विभोर कर देती है। इस ईसाई संत ने अपनी एक रचना (Spiritual Canticle) अर्थात् 'आध्यात्मिक उपगान' में इस प्रकार के विरह एवं मिलन की अनुभूति का वर्णन करते हुए इसे कपोत पक्षी के जीवन द्वारा भी उदाहृत किया है।[१] कवेंटरी पैट मोर (१८२३–९६ ई०) नामक एक अंग्रेजी कवि ने तो सांसारिक विवाह को ही उपर्युक्त स्वर्गीय विवाह का मूल आधार माना है और उसे इसका एक अनुकरण मात्र होना बतलाया है।

अंडरहिल का कहना है कि उपर्युक्त 'दैवीकरण' तथा 'आध्यात्मिक विवाह' वस्तुतः किसी साधक की प्रकृति को सूचित करने वाली भाषा के शब्द मात्र हैं और इनका सम्बंध जितना उसकी आन्तरिक अनुभूति से है उतना किसी वस्तुगत तथ्य के साथ नहीं हो सकता। एक ओर जहाँ ये उसके उस नूतन परिचय का पता देते हैं जो उसे अपने व्यक्तित्व में आ गए गम्भीर परिवर्तन के कारण मिलता है और उसे चकित कर देता है—क्योंकि नमक, गंधक एवं पारद ये सभी उसे उस समय अचानक विशुद्ध स्वर्ण में परिणत हो गए जान पड़ते हैं—और दूसरी ओर उसका प्रेमभाव भी किसी विलक्षण आनन्दातिरेक अथवा हर्षोन्माद की दशा तक पहुँच गया हुआ प्रतीत होने लगता है। अतएव, इस प्रकार के प्रतीकात्मक पुन-र्निर्माण की प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके तथा इनमें से प्रत्येक में निहित मूल रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर और उसे विलगाकर हम, कदाचित्, उस वास्तविक तत्व का पता पा सकते हैं जिसके स्पष्टीकरण के ही लिए इनका प्रयोग होता है। इसके सिवाय ऐसे आध्यात्मिक साधक के प्रायः उन कतिपय लक्षणों की भी चर्चा करते हैं जो 'संयोगावस्था' के प्रारम्भिक रूप में अथवा उसकी सिद्धि के फलस्वरूप दीख पड़ते हैं तथा जो इसी

---

१. **E. Allison Peers: The Mystics of Spain (London, 1951) pp. 114-20.**

कारण, इसका मर्म समझने की चेष्टा करते समय हमें सहायता पहुँचा सकते हैं।"[१] इस प्रकार उन्होंने इनमें से प्राथमिक वा प्रारम्भिक लक्षण के रूप में 'अहंभाव' के 'पूर्ण समर्पण' अथवा 'त्याग' का नाम है और फिर सिद्धि सूचक चिह्नों में से 'पूर्ण-तल्लीनता', 'अंशग्राहिता-सम्बंधी चेतना' तथा 'आध्यात्मिक-शक्ति' की गणना की है। उनके अनुसार, यदि उपर्युक्त 'संयोगावस्था' अथवा 'सम्मिलनपरक जीवन' (Unitive Life) पर गम्भीर विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि उसके वास्तविक रहस्य का पता चलाना न तो मनोवैज्ञानिक आधार पर सरल है और न वह किन्हीं आध्यात्मिक साधकों के विभिन्न उद्गारों के ही माध्यम से ठीक-ठीक समझा जा सकता है। इसका वह द्वन्द्वात्मक रूप (Dual Character) और भी रहस्यपूर्ण है जिसके अनुसार साधक एक ओर जहाँ निष्क्रिय (Patient) है, वहाँ दूसरी ओर सक्रिय (Agent) भी दीख पड़ता है---परमात्मा की दृष्टि से देखने पर वह प्रथम रूप में जान पड़ता है, किन्तु जगत् की दृष्टि से द्वितीय रहता है।[२]

आध्यात्मिक परिणय वा विवाह के जिन चार विभिन्न सोपानों की चर्चा की जा चुकी है उनके विषय में सर्वप्रथम विस्तृत चर्चा करने वाले ईसाई संत रिचार्ड ऑफ़ सेंट विक्टर जिनका आविर्भाव बारहवीं ईसवी शताब्दी में हुआ था। उनका कहना है कि प्रेमपथ की सीढ़ियाँ अत्यन्त विकट एवं दुरारोह हैं और उनसे होकर परमात्मा के निकट पहुँच पाना यों सम्भव नहीं है। मंगनी (Betrothal) वाले प्रथम सोपान पर ही, उनके अनुसार, साधक को अपने प्रियतम के लिए घोर बेचैनी होने लग जाती है। उसमें अकस्मात् एक निराला परिवर्तन हो जाता है, वह कुछ सजग-सा जान पड़ने लगता है तथा उसकी आतुरता बढ़ने लग जाती है। इस प्रकार वह क्रमशः उस दूसरी दशा में प्रवेश कर जाता है, जहाँ उसे अपने प्रियतम के साथ किसी अपूर्व वैवाहिक सम्बंध की घनिष्ठता का अनुभव होने लगता

---

१. **Evelyn Underhill: Mysticism, p. 415.**

२. Do p. 433.

है और वह वस्तुतः स्वयं अपने को पहले से 'कुछ ऊपर' तथा उसकी सन्निधि में भी समझने लगता है। यहाँ पर उसे अब अपने एक नवीन स्वर्गीय जीवन के प्रति विश्वास भी उत्पन्न हो जाता है और वह अपने प्रियतम की एक झांकी तक पा लेता है तथा, अंडरहिल के अनुसार, इसी दशा को कदाचित् अन्य कुछ संतों ने उद्दीप्त मार्ग (Illuminative Way) की भी संज्ञा प्रदान की है। फिर तीसरे अर्थात् ग्रन्थिबंधन (Wedlock) के सोपान पर पहुँचते ही जीवात्मा 'संयोगावस्था' का 'मिलनदशा' (Unitive way) तक का भी अनुभव करने लग जाती है। इस प्रकार अपना 'दैवीकरण' हो जाने पर उसे परम आह्लाद की स्थिति उपलब्ध हो जाया करती है। परन्तु अन्त में, जब जीवात्मा संभोग (Copulation) की दशा वाले चौथे अथवा अन्तिम सोपान पर भी पहुँच जाती है जिसे रिचार्ड ने 'फलप्राप्ति' वा सिद्धि का नाम दिया है, तो उसका सारा अकथनीय आनन्द जाता रहता है। उसका अब कोई न तो अपना संकल्प (Will) रह जाता है और न ऐसा कोई अभिक्रम (Initiative) ही शेष रह पाता है जिसके कारण उसके व्यक्तित्व को किसी प्रकार का पृथक् महत्व मिल सके। सांसारिक दृष्टि से देखने पर वह "अपने स्तर से भी नीचे लाकर अपमानित कर दी गई" बन जाती है और उसे नये कर्त्तव्य अपनाने पड़ जाते हैं।[1]

इस्लाम और दाम्पत्यभाव

इस्लाम धर्म वाले सूफ़ी सम्प्रदाय के अनुयायी भी दाम्पत्यभाव को विशेष महत्व देते हैं, किन्तु उनके यहाँ, साधारणतः परमात्मा को ही प्रेमपात्री मानकर साधक की ओर से प्रेमी की भाँति उसे प्राप्त करने का यत्न किया जाता है। साधक अपने को परमात्मा से वियुक्त मानकर उसके साथ मिलने की चेष्टा किया करता है, इसके लिए विविध साधनाओं में लगा करता है तथा, अन्त में, अनेक स्थितियों को क्रमशः पार करके

१. **Evelyn Underhill: Mysticism, pp. 139-40.**

ही, किसी प्रकार, वह अपने प्रयास में सफल हो पाता है। सूफ़ियों की विरहजन्य बेचैनी, उनकी अपने इष्ट के प्रति गम्भीर आस्था तथा उनका अपने मार्ग के किसी भी कष्ट को तृणवत् मानकर अग्रसर होते जाने की दृढ़ता ये सभी यथेष्ट मात्रा में दीख पड़ती हैं। इनके कारण उनके प्रेमभाव की प्रगाढ़ता भी उसे आदर्श रूप प्रदान कर देती है। तदनुसार परमात्मा एवं जीवात्मा के पारस्परिक मिलन का एक चित्रण प्रस्तुत करते हुए सूफ़ी कवि रूमी ने एक स्थल पर कहा है—"तेरी मधुर सत्ता के साथ मिलकर यह मेरा आध्यात्मिक जीवन वैसा ही हो गया है जैसा मदिरा के साथ मिलकर पानी बन जाता है। अतएव, कौन ऐसा है जो इस मदिरा एवं जल को पृथक्-पृथक् कर सकता है अथवा हम दोनों को एक हो जाने पर विलगा सकता है? अब तू मेरा ही वृहत्तर 'स्व' रूप हो गया क्योंकि अब तुझे कोई किसी सीमा के भीतर अवरुद्ध नहीं कर सकता और जब तू ने ही मुझे अपने में ले लिया तो क्या अब मेरे द्वारा भी तेरा अपना-लिया जाना नहीं कहा जा सकता? तू ने मुझे सदा इसीलिए दृढ़ बनाये रखा है कि मैं भी तुझे सर्वदा अपना जानता रहूँ। अब तेरा प्रेम मेरे भीतर ओत-प्रोत रूप में भर गया है और वह मेरी अस्थि एवं नसों तक में स्पंदन करता हुआ मेरे सारे शरीर में व्याप्त हो चुका है। मैं तेरे होठों पर वेणु बनकर विद्यमान हूँ तथा तेरे वक्षस्थल पर एक वीणा की भाँति पड़ा हुआ हूँ—मेरे अन्दर गहरे स्वर भरो जिससे मैं उच्छ्वसित हो उठूँ और मेरे तारों को इस प्रकार झंकृत करो कि मेरे आँसू चमकने लगें।"[1] अपने प्रेम-पात्र वा प्रेमपात्री के प्रति किसी एक प्रेमी के भाव इससे बढ़कर और क्या हो सकते हैं!

परन्तु, फिर भी यहाँ उस मधुरोपासना की व्यंजना नहीं दीख पड़ती जिसे हम ईसाई संतों के आध्यात्मिक परिणय-सम्बंधी मधुर उद्गारों में पाते हैं तथा जो उस रहस्यपूर्ण लगाव के ही कारण एक अपनी अलग विशेषता रखती प्रतीत होती है। सूफ़ी संतों की बानियों के उदाहरण में

१. रूमी की 'वसंतोत्सव' विषयक रचना के एक अंश का भावानुवाद।

हमें उसका एक उत्कृष्ट रूप बसरा की प्रसिद्ध साधिका राबिया के उपलब्ध भावपूर्ण वाक्यों में अवश्य मिलता है। वह अपने प्रियतम परमेश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव रखती थी और उसकी मधुर सुध में सदा लीन भी बनी रहा करती थी। एक बार जब एक अन्य सूफ़ी संत हसन बसरी ने उससे पूछा, "क्यों जी, तू अपना विवाह क्यों नहीं कर लेती ?" तो इसके उत्तर में राबिया ने बतलाया, "विवाह तो शरीर का हुआ करता है जो मेरा है ही नहीं और वह मेरे मन के ही साथ अपने प्रभु के चरणों में अर्पित हो चुका है। यह अब उसी के सर्वथा अधीन है और उसी के उपयोग का भी है। उसी के साथ मेरा वास्तविक विवाह भी हो चुका है।" इसी प्रकार उसका निवेदन भी परमेश्वर से केवल यही रहा, "हे स्वामी, तू जो कुछ भी सांसारिक वैभव मुझे प्रदान करना चाहे उसे तू अपने शत्रुओं को दे दे और जो स्वर्गीय सुखों की सामग्री हो उसे अपने मित्रों में बाँट दे। मेरे लिए केवल तू ही सर्वस्व बना रह।"[१] कहते हैं कि किसी समय जब वह अपनी कुटिया के सामने भावमग्न होकर बैठी थी उधर से कोई नवयुवक आ निकला। वह देखने में पूर्ण स्वस्थ एवं सुन्दर था, किन्तु उसके सिर पर एक पट्टी भी बंधी हुई थी। राबिया के पूछने पर उसने बतलाया कि मैं सिर की पीड़ा से बेचैन हूँ और इसीलिए मैंने यह पट्टी भी बाँध रखी है। उसने यह भी कहा कि मैं तीस वर्ष का हूँ और मेरा स्वास्थ्य भी बराबर ठीक रहता आया है, केवल गत एक वर्ष से ही यह रोग मुझे कष्ट पहुँचा रहा है। राबिया उसके मुख से ये बातें सुनकर सहसा दुखी हो गई और उसने अपने नेत्रों में आँसू भरते हुए उससे कहा, "अय युवक, जब तक तू पूर्ण स्वस्थ रहा तब तक तू कौन ऐसा चिह्न अपने शरीर पर धारण किया करता था जिससे इसके रचने वाले परमेश्वर की भलाइयों का पता चले; भला यह तो बतला कि अब तक तुझे किसने चंगा बना रखा था ? आज तू एक साधारण-सी सिर पीड़ा के नाम पर ऐसी पट्टी

---

१. Margaret Smith : Rabia the Mystic (London, 1928) p. 30.

बाँधे फिर रहा है और, इस प्रकार, मेरे प्रियतम के ऊपर तू इस लांछन का आरोप कर रहा है कि वह तेरे प्रति कठोर हो गया है ! अरे तू कृपा करके इस पट्टी को शीघ्र उतार कर फेंक दे जिससे आगे किसी को फिर इसका कारण पूछने का कोई अवसर न मिल सके, न तुझे उससे वैसा उत्तर देना पड़ जाय और यह समझा जाने लगे कि मेरा स्वामी तेरे प्रति कोई निर्ममता का व्यवहार कर रहा होगा,"[१] राबिया का पत्नी-हृदय इतना सरल एवं कोमल था कि वह अपने प्रियतम परमेश्वर के किसी भावी अहित की कल्पना तक को भी सहन नहीं कर सकती थी।

इस प्रकार की भावना, सूफ़ी सम्प्रदाय के अन्य साधकों में प्रायः लक्षित नहीं होती। कुछ लोगों का कहना है कि उसके 'मूसा सुहागिया' नामक उपसम्प्रदाय के अनुयायी इस प्रकार के उपासक समझे जा सकते हैं जिनका प्रधान केन्द्र अहमदाबाद में है। कहते हैं कि प्रसिद्ध सूफ़ी संत जलालुद्दीन 'सुर्खपोश' के शिष्य कोई मूसाशाही सुहाग नामक व्यक्ति थे जो पन्द्रहवीं ईसवी शताब्दी के अन्त में वर्त्तमान थे। ये उच्च कोटि के साधक थे और ये, अपने को लोगों की अधिक भीड़भाड़ से बचाये रखने के उद्देश्य से अधिकतर हिजड़ों में मिलकर रहा करते थे तथा, इसीलिए, इन्होंने अपनी वेशभूषा में भी बहुत परिवर्त्तन कर लिया था। कहते हैं कि अपने पीर शाह इनायत द्वारा उनके मठ से निर्वासित हो जाने पर बुल्लेशाह भी स्त्रियों की वेशभूषा धारण किये लोगों को अपनी 'काफी' के पद सुनाते फिरा करते थे जिनमें अपने 'प्रियतम' परमात्मा वा पीर के प्रति उनके विरह-भाव भरे रहा करते थे।[२] इनके स्त्रियोचित वेश के अनुकरण में इनके अनुयायी अभी तक चूड़ी पहना करते हैं तथा बाजे बजाकर प्रायः नृत्यगान भी करते फिरते हैं। उनका कहना है कि संगीत की साधना द्वारा, यदि हम चाहें तो, अनेक प्रकार के अलौकिक प्रभाव तक डाल सकते हैं। परन्तु

---

१. **General Parakram Jung Bahadur Rana : Tales from the Mystics of the East (Kitabistan, Allahabad, 1936) pp. 63-4.**

२. 'पाटल' संत-साहित्य विशेषांक (पटना, अप्रैल १९५५ ई०), पृ० २६७-८

उनके यहाँ परमात्मा के प्रति मधुरोपासना की उस भावना का पाया जाना नहीं सुना जाता जिनके उदाहरण, हमें बसरा की राबिया तथा वैसे अन्य संतों के भी प्रसंगों में मिलते हैं। इस्लाम धर्म, कदाचित्, इसके लिए उतना अनुकूल भी नहीं समझा जाता। एक स्थल पर तो यह भी कहा गया मिलता है, "फिर भी यह एक उल्लेखनीय बात है कि रोमन कैथलिक चर्च ने, अन्त में, किस प्रकार स्त्रीत्व के प्रति भावना को प्रश्रय देना स्वीकार कर लिया, जहाँ इस्लाम धर्म बराबर नितान्त पुंसत्व-समर्थक ही बना रह गया।"[१] जिसके अनुसार, यदि इसके अनुयायियों ने कभी दाम्पत्य भाव को विशेष महत्व देना भी चाहा तो वह इस रूप में ही प्रकट हुआ कि इसके सूफ़ी सम्प्रदाय वालों ने परमात्मा को किसी इष्टदेवी के वेश में ही अपनाया। इनकी प्रेमाभक्ति भी इसी कारण, जितनी आसक्तिपरक है उतनी वह श्रद्धामूलक भी नहीं हो पायी है।

मधुरोपासक धर्म-साधनाएँ

परमात्मा को प्रेमपात्री के रूप में स्वीकार करके उसे प्राप्त करने की भावना सूफ़ी संप्रदाय की एक प्रमुख विशेषता समझी जाती है। किंतु इसके कतिपय उदाहरण हमें अन्यत्र भी मिलते हैं तथा इनमें से कुछ को हम सहसा उसके द्वारा प्रभावित भी नहीं ठहरा सकते। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नगर मदुरा के निकटवर्ती किसी 'तिरुवादउर' के निवासी शैव संत माणिक्क बाचकर् के लिए कहा गया है कि उनका आविर्भाव चौथी ईसवी शताब्दी में हुआ था और वे अपने इष्टदेव भगवान शिव के अनन्य प्रेमी भक्त थे। उनकी 'तिरुवाचकम्' एवं 'तिरुक्कोवै' नामक उपलब्ध दो प्रमुख रचनाओं में से दूसरी के लिए कहा जाता है कि वह प्रेमगाथात्मक प्रबन्ध काव्य है। उसके नायक एवं नायिका की प्रेम-कहानी का रूप सर्वथा लौकिक-सा दीख पड़ने पर भी, वह वस्तुतः, माणिक्क वाचकर्

१. H. Cutner : A Short History of Sex Worship, pp 168-9

की अपने इष्टदेव के प्रति प्रदर्शित विशुद्ध प्रेमाभक्ति एवं प्रेमसाधना को ही उदाहृत करती है। इसके सिवाय, उसकी "एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें परमात्मा प्रेमिका के रूप में तथा जीवात्मा प्रेमी के रूप में वर्णित है तथा एक प्राचीन तमिल काव्य में सूफ़ीमत की यह छाया आश्चर्यजनक है।"[१] क्योंकि इस कवि के उपर्युक्त जीवन काल तक अभी भारत में सूफ़ी संप्रदाय का आरम्भ भी नहीं हुआ था। योरुपीय विद्वान जी० यू० पोप ने माणिक्क वाचकर् का आविर्भाव-काल ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी बतलाया है, किंतु के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार उसका उक्त चौथी शताब्दी ही होना अधिक प्रमाणसंगत जान पड़ता है। तमिल प्रांत की प्राचीन संस्कृति के अनुसार किसी प्रेमी की ओर से अपनी प्रेमपात्री का आध्यात्मिक रूप दिया जाना, कदाचित्, वैसी निराली बात भी नहीं कहला सकती। वहाँ की 'कलावियल' अथवा 'कलावु' नामक प्राचीन वैवाहिक प्रथा की प्रायः तीन, क्रमिक दशाएँ मानी जाती हैं। इनमें से प्रथम 'कच्ची' दूसरी 'अय्यूम' तथा तीसरी 'तुनिवु' नाम की हैं। इनमें से प्रथम की अवस्था में जहाँ प्रेमी एवं प्रेमिका की अकस्मात् देखा-देखी हो जाती है और एक दूसरे द्वारा प्रभावित होता है, वहाँ दूसरी के सम्बंध में कहा गया है कि उसमें प्रेमी के हृदय में इस प्रकार का एक 'संदेह'-सा उत्पन्न हो जाता है कि उसकी प्रेमिका वा प्रेमपात्री कहीं केवल कोई स्वर्गीय आभास मात्र ही न हो तथा, अन्त में, तीसरी दशा तक पहुँच पाने पर ही उसे वास्तविक स्थिति का सम्यक् बोध हो पाता है।[२] अतएव, उसे तमिल प्रेमी के हृदय में अपनी प्रियतमा अथवा भावी पत्नी के लिए किसी अपार्थिव भावना का जागृत हो जाना भी, इस सम्बंध में, एक तथ्य की ही ओर संकेत कर सकता है।

तमिल संत माणिक्क वाचकर् की भाँति मराठी के कृष्ण भक्त कवि

१. श्री पूर्ण सोम सुन्दरम् : तमिल और उसका साहित्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली) पृ० ५०-२

२ S. K. Pillai : The Ancient Tamils, part I (Madras, 1934) pp. 117-9.

देवनाथ (सन् १७५४-१८२१ ई०) भी सूफ़ी कवियों की पद्धति के अनुसार, अपने इष्टदेव को प्रेमपात्री जैसा रूप प्रदान कर उसके विरह में तड़पते दीख पड़ते हैं। ये श्रीकृष्ण के सौंदर्य का वर्णन ठीक उसी प्रकार से करते हैं जैसे किसी प्रेयसी का किया जा रहा हो। उनके प्रति उपालम्भ भी वैसे ही शब्दों में देते हैं तथा उनके विरह में पड़कर उसी प्रकार अपनी बेचैनी का प्रदर्शन भी करते हैं, जिस प्रकार कोई प्रेमी अपनी प्रेमपात्री के विरह में प्रदर्शित किया करता है।"[1] इनके ऐसे पद, कदाचित् अधिक संख्या में उपलब्ध नहीं हैं जिनके विषय में माणिक्क वाचकर् की रचना 'तिरुक्कोवै' में पायी जाने वाली अल्पसंख्यक पंक्तियों जैसा कहा जा सकता है। परन्तु जो संकेत मिलते हैं वे यथेष्ट रूप में स्पष्ट कहे जा सकते हैं और मराठी कवि देवनाथ के लिए तो इतना और भी कहा जा सकता है कि उन्होंने सूफ़ी कवियों की शब्दावली तक को भी किसी अंश तक अपनाने की चेष्टा की है। इस प्रकार, यह परिणाम निकालते भी देर नहीं लगती कि वे इनसे अवश्य प्रभावित रहे होंगे। देवनाथ कवि के सम्बंध में हम यह भी कह सकते हैं कि उनके लिए बहुत बड़ी कठिनाई उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण के सगुण अवतारी 'पुरुष' होने में पायी जा सकती है जो निर्गुणवादी सूफ़ियों के सामने तो है ही नहीं, वह कथाच्छलेन भावाभिव्यक्ति करने वाले माणिक्क वाचकर् के कार्य में भी वैसी कोई बाधा नहीं डाल पाती, किन्तु ये फिर भी उसकी चिन्ता न करके अपना सरस वर्णन करते ही चले जाते हैं।

बौद्ध सिद्धों की अपनी धार्मिक साधना में भी हमें पुरुष की ओर से स्त्री के प्रति मिलन के लिए अग्रसर होना प्रदर्शित किया गया मिलता है। उनके चर्यापदों की वर्णन-शैली द्वारा यह भी सूचित होता है कि वह भी किसी दाम्पत्यभाव-सम्बंधी प्रक्रियाओं की ही ओर संकेत करती है। उदाहरण के लिए सिद्ध गुण्डरीपा का कहना है, "हे योगिनी, तू अपनी

१. डा० प्रह्लाद नरहर जोशी : मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति (पुणें, १९५७ ई०), पृ० ९४-५

त्रिनाड़िका को दाबती हुई मुझे आलिंगन कर और कुलिश एवं कमल को क्रीड़ाओं द्वारा समय-यापन कर दे। अरी योगिनी, मैं तेरे बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता और तुम्हारा चुंबन लेकर मैं कमलरस के माधुर्य का आस्वादन किया करता हूँ।"[१] जो किसी साधक द्वारा की जाने वाली महामुद्रा-साधना का ही प्रतीकात्मक वर्णन कहा जा सकता है। सिद्ध 'गुण्डरीपा' ने फिर उसी रचना के अंत में, इसके कारण, अपने लिए 'कुन्दरेवीरा' अर्थात् रतिकार्य में सक्षम होने वाले का भी श्रेय लिया है। इसी प्रकार सिद्धाचार्य कण्हपा ने भी अपनी एक 'दोहागीति' में किसी ऐसे ही सफल साधक को 'सुरअ-वीर' (सुरतवीर) की संज्ञा दी है[२] तथा सिद्ध कुक्कुरीपा ने भी कमल एवं कुलिश के योग का रहस्य जानने वाले को 'वीर' कहा है।[३] बौद्ध सिद्धों की यह महामुद्रा-साधना मूलतः तांत्रिक साधना थी और उसका स्वरूप किसी परमात्मा में आस्था रखते हुए उसकी भक्तियुक्त उपासना से सर्वथा भिन्न ठहराया जा सकता है। यहाँ पर हमें उस प्रेमतत्त्व का अभाव भी दिखलाया जा सकता है जो उपर्युक्त प्रेमाभक्ति का आधार था। परन्तु इस बात में सन्देह नहीं कि बौद्ध सिद्धों की यह साधना भी वस्तुतः 'धार्मिक' थी तथा एक प्रकार से 'आध्यात्मिक' भी कहला सकती थी। सहजयानी सिद्धों ने इसमें वज्रयान के अनुयायियों के कारण आयी हुई अनेक त्रुटियों को दूर कर इसका संस्कार किया। उन्होंने इसे फिर उस मौलिक उद्देश्य के साथ प्रयोग में लाने का यत्न भी किया जिसके लिए इसे सर्वप्रथम प्रचलित किया गया था। यही बात हम जैन कवि बनारसीदास के 'अध्यात्मगीत' में व्यक्त किये गए उन उद्गारों के विषय में भी कह सकते हैं जो "मेरा मन का प्यारा जो मिले। मेरा सहज सनेही जो मिले" से आरंभ

१. चर्यापद : सम्पादक श्री मणीन्द्र मोहन वसु (कमला बुक डिपो, कलिकाता) पृ० १८-९
२. दोहाकोश : संपादक डा० प्रबोधचन्द्र बागची (कलकत्ता संस्कृत सिरीज) पृ० ४१
३. चर्यापद, पृ० १०३-४

होता है ।[1] फिर भी हम इसे न तो मधुरोपासना की कोटि में रख सकते हैं, न इसे सूफ़ियों की प्रेम-साधना की ही श्रेणी में स्थान दे सकते हैं । इसका महत्व, इस प्रसंग में, केवल इतना ही हो सकता है कि इस 'धार्मिक' साधना में भी नर एवं नारी के पारस्परिक आकर्षण को हेय नहीं ठहराया गया ।

प्रायः इसी प्रकार की प्रवृत्ति हमें उन वैष्णव, शैव तथा गाणपत्य संप्रदायों में भी दीख पड़ती है जो तांत्रिक प्रभाव में आ चुके हैं और जिनकी साधनाओं में भी बौद्ध सिद्धों की महामुद्रा-साधना की भाँति कुछ न कुछ प्रक्रिया करना आवश्यक हो जाया करता है । इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण वर्ग वैष्णवों का सहजिया संप्रदाय कहा जा सकता है जो सहजयानी सिद्धों की उपर्युक्त साधना-पद्धति द्वारा, संभवतः, प्रत्यक्षरूप में भी प्रभावित है तथा जिसने उन्हीं के यहाँ से, कदाचित्, 'सहज' का शब्द भी उधार लिया है । इनमें मुख्य अन्तर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यहाँ पर बौद्ध सिद्धों के 'प्रज्ञातत्व' एवं 'उपाय' तत्त्व क्रमशः राधा एवं श्रीकृष्ण के रूप ग्रहण कर लेते हैं, जिस कारण यहाँ प्रेम का अंश भी प्रचुर मात्रा में स्थान पा लेता है । इनकी मुद्रा 'मंजरी' के नाम से अभिहित की जाती है और यह भी अपने प्रेमी साधक की मानसिक साधना के विकास में उसी प्रकार सहायता देती है जिस प्रकार उनकी मुद्राएँ । परन्तु, जहाँ तक पता है, शैव तथा गाणपत्य संप्रदायों में से किसी में भी ठीक इसी प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं पायी जाती । भगवान शिव की पत्नी पार्वती अथवा उमा का स्वयं एक अपना पृथक् व्यक्तित्व है जिसके कारण, एक संप्रदाय उनके नाम के आधार पर भी 'शाक्त संप्रदाय' कहलाकर प्रसिद्ध है तथा, इस विशेषता के ही कारण, बहुत-सी ऐसी बातों को भी यहाँ प्रश्रय देना पड़ जाता है जिनको बौद्धों अथवा वैष्णवों वाले सांप्रदायिक वर्गों में कोई महत्व नहीं दिया जाता । शैव

---

१. बनारसी विलास (जयपुर, सं० २०११), पृ० १५९-६२
२. डा० यदुवंशी : 'शैवमत', पृ० १६२

संप्रदाय और उसी प्रकार गाणपत्य संप्रदाय भी स्वभावतः शाक्त तंत्रों द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित है। इसीलिए, यहाँ पर जितना ध्यान आमोद-प्रमोद और उल्लासपरक प्रक्रियाओं की ओर देना पड़ता है, उतना वे दोनों केवल मुद्रा-साधना तक ही सीमित भी नहीं है। 'महागाणपत्य' नामक उपसंप्रदाय के अनुयायी तो अपने इष्टदेव हेरम्ब को एक विशाल आसन पर विराजमान होकर अपने शुण्ड से सुरापान करते हुए तथा अपनी कामिनी शक्ति को, बायीं ओर से अंक में कामार्त्त होकर आलिंगन करते रूप में दिखलाया करते थे। वे उनके समक्ष अत्यन्त अश्लील एवं घृणित आचार में मग्न बनकर वामाचारी शाक्तों तक को भी मात कर देते थे।

प्रतीकोपासना

अतएव, यौनपरक भावना द्वारा अनुप्राणित अथवा उससे न्यूनाधिक मिलती-जुलती किसी अन्य प्रकार की मनोवृत्ति के भी साथ की जाने वाली विभिन्न साधनाओं वा उपासनाओं की ओर दृष्टिपात करने पर हमें पता चल सकता है कि मधुरोपासना का स्वरूप इनसे बहुत कुछ भिन्न ठहरता है। इनके साथ उसकी तुलना करने पर उसकी कुछ विशेषताएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं। उदाहरण के लिए उपर्युक्त लिंगादि की पूजा को, वस्तुतः हम केवल प्रतीकोपासना का एक रूप मात्र मान सकते हैं। इसी प्रकार, मुद्रा या मंजरी साधना तथा वामाचार प्रधान तांत्रिक साधनाओं को भी हम अधिक से अधिक किसी चरमोद्देश्य की सिद्धि के लिए अभ्यास रूप में निष्ठित प्रक्रिया विशेष का ही महत्व दे सकते हैं। ये सभी मूलतः कामतत्त्व पर आधारित हैं और इनमें से किसी में भी हमें उस शुद्ध प्रेमतत्व का किंचिन्मात्र भी अंश नहीं दीख पड़ता जो मधुरोपासना वाली साधना की एक बहुत बड़ी विशेषता समझा जा सकता है तथा जिसके अभाव में इनके सर्वथा विकृत एवं परिहार्य बन जाने की आशंका भी रहा करती है। वैष्णव सहजिया संप्रदाय की साधना के विषय में हम यह कह सकते हैं कि वहाँ पर प्रेमतत्त्व का समावेश पर्याप्त मात्रा

में रहा करता है तथा उसका अंतिम ध्येय श्रीकृष्ण एवं राधा के दिव्य प्रेम की उपलब्धि भी कहा जा सकता है। परन्तु फिर भी एक ओर जहाँ, मंजरी-साधना के कारण, तांत्रिक भावनाओं का पूर्ण परित्याग नहीं हो पाता, वहाँ दूसरी ओर उस प्रक्रिया के तत्वत: अभ्यासपरक ही बने रह जाने से इसे प्रत्यक्ष साधना का वह उत्कर्ष भी नहीं मिल पाता जो मधुरोपासना में उपलब्ध है। यह दूसरा गुण सूफ़ी साधकों की प्रेम-साधना में भी पाया जाता है और इसे हम उसकी एक प्रमुख विशेषता भी ठहरा सकते हैं। किन्तु परमात्मा को स्त्री रूप में अपनाने के कारण, वहाँ पर भी प्राय: उस प्रवृत्ति का ही परिचय मिलने लग जाता है जो स्थूल शृंगारपरक हुआ करती है तथा जिसके द्वारा सदा संयत एवं मर्यादित न रहने की दशा में, मूल उद्देश्य पर भी आघात पहुँच सकता है।

मधुरोपासना का स्वरूप

मधुरोपासना के उत्कृष्ट उदाहरण हमें स्वभावत: वहीं पर बड़ी संख्या में उपलब्ध हो सकते हैं जहाँ, दिव्य सत्ता को पुरुष रूप में स्वीकार करते हुए उसके प्रति कांताभाव के साथ प्रेमासक्ति प्रकट की जा सके तथा जहाँ पर वैसा ही एकांतनिष्ठा और आत्मसमर्पण का भाव भी हो जैसा आत्म-विस्मृति पूर्वक 'तदीय' बनकर अपने को पूर्ण तल्लीन बना देने की सतत् चेष्टा में संभव प्रतीत होता है। यह साधक चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष उसकी मनोवृत्ति पूर्णत: उसी रूप में ढली होना चाहिए जो किसी प्रेमिका की अपने प्रेमपात्र के प्रति प्रदर्शित आसक्ति का हुआ करता है, किन्तु इसके साथ ही उसे किसी वासनात्मक अनुराग जैसा होना भी अपेक्षित नहीं। साधक के स्त्री रहने पर वैसी चित्तवृत्ति में अधिक स्वाभाविकता लक्षित हो सकती है। उसकी एकरूपता के सदा बने रहने में उतना संदेह भी नहीं किया जा सकता, न यदि परिस्थिति सर्वथा प्रतिकूल न पड़े तो उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि एवं पुष्टि के ही विषय में कोई आशंका की जा सकती है। परन्तु जहाँ पर इस उपासना का भाव कोई पुरुष अंगीकार

करता है, वहाँ दूसरों की दृष्टि में वह अधिकतर किसी अभिनेता मात्र से भिन्न आचरण करता हुआ नहीं जान पड़ता, जिस कारण उसका वातावरण बराबर अनुकूल नहीं रह पाता। फिर भी, जहाँ तक एक सच्चे साधक की मनःस्थिति का प्रश्न है, उसमें किसी प्रकार का भी अंतर नहीं आ सकता। वास्तव में मधुरोपासना के लिए जितना किसी साधक वा साधिका की अंतर्वृत्ति का, कोणविशेष के अनुसार, उन्मुख हो जाना आवश्यक है उतना उसके वाह्याचरण का भी ठीक तदनुकूल दीख पड़ना अनिवार्य नहीं कहा जा सकता, न इसमें यत्किंचित् अंतर आ जाने से ही, उसका मूल्य कम हो जा सकता है। तथ्य तो यह है कि वैसी मनोवृत्ति के निरंतर बने रहने पर साधक का पूरा जीवन ही समय पाकर, तदनुरूप निर्मित हो जा सकता है। उस दशा में उसकी सारी बाधाएँ आप-से-आप शांत हो जा सकती हैं तथा उसका रंग, अंत में, निखर कर अत्यंत चोखा बन जा सकता है। फलतः वाह्याचरण भी उसके अनुसरण का स्वाभाविक यत्न कर सकता है, इसमें संदेह नहीं।

दाक्षिणात्य भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

दक्षिण भारत के मधुरोपासकों में स्त्री-भक्त गोदा वा आंडाल का नाम लिया जा सकता है जो प्रसिद्ध १२ वैष्णव आलवारों में से अन्यतम थी। कहते हैं कि उसे पेरिय आलवार ने शिशु की अवस्था में किसी पुष्पवाटिका के भीतर पड़ी हुई पा लिया था और स्वयं वात्सल्यभाव का एकांतनिष्ठ कृष्ण-प्रेमी होने के नाते उन्होंने इसे अपनी ओर से पुत्री की भाँति पाला-पोसा था। आंडाल का एक नाम प्रायः 'कोदै' भी बतलाया जाता है जिसका अर्थ 'फूल का गुच्छा' होता है जो वस्तुतः उसके रूप-सौन्दर्य का भी परिचायक हो सकता है। आंडाल की भक्ति उसकी अवस्था के ही साथ क्रमशः बढ़ती हुई चली गई और उसने अपना विवाह तक नहीं किया, प्रत्युत अपने को श्रीरंगनाथ की पत्नी समझती हुई, उनकी मधुरोपासना में ही सदा प्रवृत्त रही। अंत में, केवल सोलह वर्ष की अवस्था

में ही उनमें लीन भी हो गई। उसकी भक्ति-रसपूर्ण रचना 'तिरुप्पावइ' के नाम से प्रसिद्ध है और वह तमिल भाषा में निर्मित है। उसने इसके अन्तर्गत उस नारी-प्रेम की सफल अभिव्यक्ति की है जिसे गोपी-प्रेम के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वहाँ पर यह अपनी सखियों के साथ गोविंद के लिए व्रत लेती है, उनके साथ 'मार्गझी' के मास में शुभ अवसर पा कर झुंड में चलती है और उनके यहाँ पहुँच जाती है। एक लेखक ने इसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में भी स्वीकार किया है और कहा है कि वह, वास्तव में, जन-समूह के साथ श्रीरंगम् जाकर वहाँ श्रीरंगनाथ की मूर्ति में लीन हो गई थी जिस कारण, आज तक भी उसे उनकी विवाहिता पत्नी के रूप में पूजा जाता है।[१] 'तिरुप्पवइ' तथा 'तिरुमोझी' नाम वाली उसकी एक अन्य ऐसी ही रचना में भी उसके गूढ़ प्रेम का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक किया गया मिलता है। इनमें जिस प्रकार गोदा का प्रेम श्री रंगनाथ वा श्रीकृष्ण के प्रति दिखलाया गया है प्रायः उसी कोटि का प्रेम श्रीकृष्ण की ओर उसे भी उसके प्रति प्रदर्शित किया गया है जो दोनों के स्वर्गीय अथवा आध्यात्मिक विवाह में प्रतिफलित हो जाता है। गोदा ने अपने विरह गीतों में से एक में कहा है "हृदय में कामाग्नि जल रही है और मलय, पवन के रूप में बाहर भी अग्निधारा बह रही है। इस आधी रात में इस तरह दोनों ओर से झुलस रही हूँ। मेरी इस दशा पर तनिक तरस तो खाओ"[२] इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग में भी वह कहती है, "लालसावश पूछती हूँ, सखे शंख, जरा बताओ तो, मेघ वर्ण माधव के अधर रस का स्वाद है कैसा? काफ़ूर वा कमल-सा सुगंधयुक्त अथवा मधुर मिठास भरा? बताओ तो हे धवल, माधव के प्रवाल सम अधर का रस है कैसा?"[३]

---

१. **P. N. Srinivasachari : Mystics and Mysticism p. 188.**
२. **पूर्ण सोमसुन्दरम् : तमिल और उसका साहित्य, पृ० ६४**
३. **वही, पृ० ६५**

आंडाल वा गोदा का हृदय वास्तव में और स्वभावतः एक रमणी का हृदय था जिस कारण उसके अंतर्गत दाम्पत्यभाव का जागृत होना तथा तदनुसार उसकी अभिव्यक्ति का भी सच्चे रूप में स्त्रियोचित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उसने बाल्यकाल से ही अपने लिए श्रीरंग-नाथ को पति रूप में वरण कर लिया था और वह उस पर मीरांबाई की भाँति आमरण दृढ़ बनी रह गई। इसीलिए, कहते हैं कि उसके धर्म-पिता पेरिया आलवार ने उसका देहांत हो जाने पर करुण शब्दों में अपना शोक प्रकट किया था और कहा था, "इकलौती बिटिया मेरी, श्री के समान उसे पाला-पोसा था। परंतु मदभरे अरुणिम नेत्रों वाला माधव उसे हर ले गया।" आंडाल के अतिरिक्त आलवारों में कोई अन्य स्त्री भक्त नहीं हुई, किन्तु नम्मालवार अथवा नम्म आलवार भी एक ऐसे विल-क्षण महापुरुष हो गए जिनकी अनेक रचनाएँ मधुरोपासना के भाव प्रकट करती हैं। उनका एक स्थल पर विरहिणी की दशा का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहना है—"रात्रि का अंधकार क्रमशः घना होता जा रहा है और सभी व्यक्ति नींद में पड़े हैं। गाएँ लौटकर घर आ गईं, किन्तु ग्वाला उनके साथ नहीं लौटा। विरहिणी उसके वियोग में अकेली झूर रही है और कभी-कभी उसका जी चाहता है कि आतमहत्या करलूँ। किन्तु, फिर उसे यह भी स्मरण हो आता है कि उसका अपने शरीर पर कोई अधिकार ही कहाँ रह गया है, केवल स्वामी ही तो उसका सभी कुछ है। कण्णन ही उसका एक मात्र भोजन है, वही पेय पदार्थ है और केवल वही उसके जीवन का अकेला आधार है। फिर भी वह निर्दयी उसकी पिपासा को शांत नहीं करता। वह चोर उसके हृदय को चुराकर भाग गया है, किन्तु वह प्रेम की अव्यर्थ पुकार को कभी रोक नहीं सकेगा।"[१] नम्म की एक यह भी विशेषता है कि ये सदा अपने को परमात्मा की प्रेमिका ही न मानते हुए कभी-कभी किसी ऐसी प्रेमिका की माँ के रूप में भी कहने लग जाते हैं। एक अन्य स्थल पर उनका कहना है—"अरी

---

१. **P.N. Srinivasachari: Mystics and Mysticism, p. 341.**

मेरी सखियो, तुम तो कई प्रकार की चूड़ियों और गहनों से आभूषित हो, मुझे बतलाओ तो सही । मैं उसे क्या कहूँ जिसने मेरी प्यारी पुत्री को, इस प्रकार पगली बना दिया है ! वह अपने दोनों हाथों को जोड़ कर (जिनमें चूड़ियाँ पड़ी हुई हैं) कह उठती है, "यही समुद्र है जिसमें मेरा स्वामी सोया करता है और अरुण सूर्य की ओर अपनी अँगुली उठाकर बतलाने लगती है कि यही मेरे श्रीधर की प्रतिमा है तथा कभी-कभी आँखों में आँसू भरकर, हा नारायण ! कहती हुई चिल्ला उठती है ।"[1] प्रेमिका के रूप में ये सारी सृष्टि को ही अपना आत्मीय समझते जान पड़ते हैं, उसके विभिन्न प्राणियों से अपनी प्रेम-कहानी कहते रहते हैं और कभी-कभी ये इस प्रकार भावावेश में आ जाते हैं कि सभी कुछ इन्हें स्वयं अपनी छाया-सा ही दीख पड़ने लगता है । "सागर सदा लहरें मारता हुआ उसी की याद में बिन सोये रातदिन जागता है । मेघ उसी के विरह में अश्रु वर्षा कर रहे हैं। वायु उसी की खोज में सदा चलायमान है तथा पक्षी एवं भ्रमर आदि सदा उसी के स्तुति-गान में निमग्न हैं ।"[2]

दाम्पत्य-भाव अथवा कांताभाव के अनेक उदाहरण हमें कर्णाटक प्रदेश के कन्नड़ साहित्य में भी मिलते हैं । वहाँ के हरिदास वा दासकूट संप्रदाय के अनुयायियों में बहुत से वैष्णव भक्त उच्चकोटि के कवि हो गए हैं जिनमें पुरंदरदास को संभवतः सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है । भक्त पुरंदरदास के लिए प्रसिद्ध है कि वे एक कृपण महाजन का जीवन व्यतीत करते समय किसी घटना विशेष के कारण, भक्ति-साधना की ओर उन्मुख हो गए थे । अंत में, उन्होंने एक महान् गीत-रचयिता के रूप में अपना शरीर-त्याग किया था । उनकी उपलब्ध रचनाओं के अन्तर्गत प्रायः सभी प्रकार की भक्ति-साधनाउदाहृत पायी जाती है, किन्तु मधुरोपासना-सम्बंधी गीतों की भी वहाँ पर कमी नहीं है ।अपनी कुछ पंक्तियों में उन्होंने कांताभाव का चित्रण इस प्रकार किया है—" भगवन् शोर मत मचाओ,

---

१. नम्मालवार (जी० ए० नटेसन, मद्रास पृ० ३३-४)

२. श्री पूर्ण सोमसुन्दरम् : तमिल और उसका साहित्य, पृ० ६७

मैं तेरे चरणों पर पड़ती हूँ यहाँ पर सभी सो रहे हैं। यदि तेरा मेरे पास आना विदित हो गया तो भला लोग क्या समझेंगे ?"[१] यहाँ पर भक्त पुरंदरदास किसी मुग्धा नवोढ़ा अथवा परकीया प्रेमिका की भाँति भावाभिव्यक्ति करते हुए दीख पड़ते हैं जो एक भक्त के लिए उसकी केलिप्रियता का सूचक भी हो सकता है। इन्होंने, इसी प्रकार, विरह-भाव समन्वित उद्‌गार भी अच्छी मात्रा में व्यक्त किये हैं और उनके बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। कन्नड़ भाषा के ही एक अन्य कवि षडक्षरी ने अपने को अपने इष्टदेव शिव की पुत्री के रूप में भी चित्रित किया है और इस प्रकार वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि वह कन्या अपने पिता की प्रतीक्षा कर रही है और इस आशा में है कि वह उसे अपने साथ घर ले जायेगा। षडक्षरी कवि लिंगायत वा वीर शैव संप्रदाय के अनुयायी थे और ये अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं।[२]

कन्नड़ के भक्त पुरंदरदास से भी कहीं अधिक रसिक हमें तेलुगु के भक्त-कवि क्षेत्रय्या जान पड़ते हैं जिनके बहुत से पद उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि इनका पूर्व नाम 'मोव्वा वरदय्या' था और इन्हें अपने यहाँ की देवदासियों के साथ संगीत एवं नृत्यादि की शिक्षा मिली थी। इन देवदासियों में से ही किसी के साथ इनकी पहले घनिष्ठता भी हो गई थी, किन्तु आगे चल कर उसने इनका परित्याग कर दिया। इस कारण ये विरक्त होकर तीर्थाटन के लिए निकले और, अंत में, काञ्चीपुर में आकर रहने लग गए। क्षेत्रय्या विशुद्ध गोपी-भाव के भक्त थे और इनका विश्वास था कि इस दशा में आजाने पर भगवान श्रीकृष्ण के परिरम्भण का सुख प्राप्त हो सकता है। इनकी एक विरहभाव भरी रचना का कुछ अंश इस प्रकार दिया जा सकता है—" हे मेरे प्रियतम, अब अधिक विलम्ब न करो। तुमने मुझे वचन दिया था कि वहाँ विलमोगे नहीं, पर शीघ्र ही वापस आ जाओगे।

---

१. अजन्ता (हैदराबाद दक्षिण, अगस्त सन् १९५२ ई०), पृ० ५१

२. **Karnatak Darshan (Bombay 1953) p. 308.**

यदि तुम शीघ्र नहीं आजाते तो मेरे अश्रुओं की धारा बहकर उमड़ती हुई कावेरी तक पहुँच जायेगी। ...... हे कमल लोचन, सुनो, तुम्हारे, आलिंगन के बिना ज्योत्सना भी मुझे आतप के समान जलाने लगती है। ...... हे मुब्बा गोपाल, मैं तुम्हारी शरण में हूँ। ...... मेरे प्रियतम ! अब देर न करो, आज रात को ही दर्शन दो"[1] इसी प्रकार भक्त क्षेत्रय्या ने सम्भवतः लक्ष्मी अथवा माया की ओर भगवान् का ध्यान दिलाते हुए उनसे उपालंभ के रूप में कहा है, "यह कौन युवती है जो तुम्हारे और हमारे बीच में आकर लेट गई है ! मेरे प्रियतम मुब्बा गोपाल, मैंने उसकी चूड़ियों की खनखनाहट सुनी है।"[2] जो न केवल इस मधुर रस के भक्त की सपत्नी-परक आशंका को ही सूचित करता है, अपितु इसकी माया के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भी भाव व्यंजित करता है। प्रसिद्ध तेलुगु कवि वेमना ने भी उत्तम योगी का परिचय देते हुए कहा है—"आदर्श पति सदा अपनी पत्नी के विषय में सोचता रहता है और आदर्श पतिव्रता के भी विचार सदा अपने पति में ही केन्द्रित रहा करते हैं। उसी प्रकार उत्तम योगी भी दिनरात परमात्मा के ध्यान में लगे रहा करते हैं"।[3] यहाँ सफल योगी का भी आदर्श दाम्पत्य-भाव की उत्कृष्ट स्थिति को ही मानकर उसे उच्चावस्था का महत्व दे दिया गया है जो उल्लेखनीय है।

कर्णाटक प्रान्त वाले हरिदासों की ही भाँति वहाँ के कुछ अन्य भक्त-कवि 'शिवशरण' कहला कर भी प्रसिद्ध हैं जिनके इष्टदेव भगवान् विष्णु न होकर शिव स्वरूप हैं तथा जिनकी कन्नड़ रचनाओं में भी हमें मधुरोपासना के भाव कम नहीं मिलते। ऐसे भक्त वा संत कवियों में अक्कमहादेवी को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है जो पुरुष कवि न होकर स्त्री कवयित्री थी। अक्कमहादेवी वस्तुतः कन्नड़ भाषा की वैसी ही कवयित्री

---

१. कल्याण, भक्ति अंक (गोरखपुर, जनवरी, १९५८ ई०), पृ० ६८४
२. वही।
३. डा० हिरण्मय : हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन (आगरा, १९५९ ई०), पृ० २६७-८

है जैसी तमिल की अंडाल, हिन्दी की मीराँबाई वा सूफ़ी भक्तिन राबिया है। इन्हें महादेवी मक्क भी कहा जाता है। इनके लिए प्रसिद्ध है कि ये परम सुन्दरी थीं तथा इनके उपास्यदेव 'चैन्नमल्लिकार्जुन' नामधारी शिव थे जिन्हें ये अपने प्रियतम पति के रूप में भी माना करती थीं और जिनके प्रति ये कांताभाव की भक्ति प्रदर्शित किया करती थीं। इनका एक स्थल पर कहना है—"नील मणि का चबूतरा बनाकर सोने का तोरण, हीरे का स्तम्भ, मूंगे का छप्पर लगाकर, मेरे हाथ में कंकण बाँधकर मेरे आत्मीयजनों ने मेरा विवाह चैन्नमल्लिकार्जुन के साथ कर दिया है।" ये कहती हैं," मैंने ऐसे निर्भय प्रियतम को अपनाया है जो भवरहित, भयरहित, कुलरहित, सीमारहित और निस्सीम सुन्दर हैं। चैन्नमल्लिकार्जुन ही मेरे पति हैं। इन मरने वाले पतियों को भाड़ में झोंक दो।" ये उसके प्रति इस प्रकार कहती हुई भी दीख पड़ती हैं, " हे प्रियतम आओ, मैं हल्दी लगा कर स्नान कर चुकी हूँ, सुनहली साड़ी पहन चुकी हूँ। आजाओ, तुम्हारी राह देख-देखकर थक गई हूँ।" इसके सिवाय अक्कमहादेवी के विरह-निवेदनपरक उद्गार भी वहुत मर्मस्पर्शी हैं, जहाँ पर ये इस प्रकार कहती हुई दीख पड़ती हैं, "एक बार मैं काम के पैरों पर पड़ती हूँ और चन्द्रमा से आँचल पसार कर याचना करती हूँ। हाय रे, कैसी है यह विरह वेदना ! किसके लिए अधीर बनूँ ? मेरे प्रियतम चैन्नमल्लिकार्जुन मुझ से मुँह मोड़ गए हैं। इसीलिए तो मुझे इन सबकी कृपा पर अवलंबित रहना पड़ा है।" इनका आत्मनिवेदन सम्बंधी उद्‌गार भी बहुत ही अनूठा है, जहाँ पर ये कहती हैं, "तुम मेरे प्रियतम हो इस बात के सिवाय मैं और कुछ नहीं जानती। तुम जब मुझ से बोलवाते हो तभी मैं बोलती हूँ, जब तुम मुझसे चलने को कहते हो तभी मैं चलती हूँ और यदि सामने न होते हो तो चेष्टाहीन बन जाती हूँ। सुनो प्राणेश्वर, तुम ही मेरी मति हो, तुम ही मेरी गति हो, तुम्हारा ही शपथ लेकर कहती हूँ।"[१]

---

१. डा० हिरण्मय : हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २६९

अक्कदेवी की रचनाओं के विषय में एक आलोचक का इस प्रकार कहना है, "अक्कमहादेवी के वचनों में भावोत्कर्ष है, अर्थ-गांभीर्य है, मधुर पद-योजना है, आलंकारिक भाषा है और, यदि एक शब्द में कहना हो तो कह सकते हैं कि उत्तम कवि जीवन का सारा संस्कार, हृदय का सारा रसानुभव उनमें कूट-कूट कर भरा है। कन्नड़ शारदा ने उनकी रचना पर चढ़कर काव्य रूपी वचन मुक्तकों का गान कराया है।" शिवशरण भक्तों में कुछ अन्य ऐसे कवि भी हो चुके हैं जिनकी पंक्तियों में इस प्रकार की भावना लक्षित होती है। किन्तु वे सभी अक्कमहादेवी जितने सफल नहीं कहे जा सकते हैं, न इसी कारण, इनकी कोटि तक पहुँच ही सकते हैं। ये भक्त कवि निर्गुणोपासक हैं, जहाँ हरिदास वैष्णव कवियों ने सगुणोपासना-परक भाव व्यक्त किये हैं। इसी प्रकार, जहाँ पर उनकी रचनाओं के अंतर्गत विशेषतः 'दास्यभाव' की प्रवृत्ति दीख पड़ती है, वहाँ पर इन कवियों ने अन्य सभी प्रकार के भावों को भी वैसे ही व्यक्त किया है तथा इनकी मधुरो-पासना-परक पंक्तियाँ विशेष रूप में उल्लेखनीय जान पड़ती हैं। जहाँ तक इस माधुर्यभाव सम्बंधी उद्‌गारों को सुन्दर ढंग से प्रकट करने की बात है। इनके कवियों के परम आचार्य वसव भी इसके लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने इष्टदेव को 'कूडल संगमदेव' की संज्ञा दी है और वे कहते हैं कि "कूडल संगम देव मेरे पति हैं, मैं सुहागिन हूँ और उनकी एकनिष्ठ पत्नी हूँ।"

मराठी भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

इसके सिवाय मराठी-साहित्य के अन्तर्गत भी हमें, उसके लगभग आरंभ काल से ही, उक्त प्रकार के भावों के उदाहरण मिलने लग जाते हैं। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध महानुभाव पंथ में श्रीकृष्ण की कथा को पूर्ण महत्व दिया गया है और न केवल यहाँ उनके चरित्र का ही विस्तृत वर्णन करने की चेष्टा की गई है, प्रत्युत उनकी लीला-परक विविध घटनाओं में से भी कई को 'श्रीमद्‌भागवत' से लेकर उनकी व्याख्या की गई है। भास्कर भट्ट,

दामोदर पंडित एवं नरेन्द्र नामक महानुभाव पंथी मराठी कवियों की ऐसी रचनाओं में कांताभाव, प्रेमासक्ति एवं विरहानुभूति-विषयक अनेक मनोरम स्थल मिलते हैं, जहाँ पर शृंगारिक भावना बहुत स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त की गई है। यहाँ तक कि 'उद्धवगीता' के अन्तर्गत भी 'कामतत्त्व' का प्रसंग छेड़ दिया गया है तथा अनन्यता का आदर्श बतलाते समय वहाँ कांताभाव का उदाहरण भी दिया गया है।[1] मराठी कवि शिव कल्याण के लिए भी कहा जाता है कि उन्होंने 'रास पंचाध्यायी' का मर्म समझाते समय उसे रूपक-सा मान लिया है और कहा है 'गोपी' से तात्पर्य यहाँ पर उस जीव से है जो प्रपंच बुद्धि से रहित होकर भगवान् के प्रति आकृष्ट हो।" इसी प्रकार उन्होंने 'सुरत' शब्द की व्याख्या भी 'आत्मप्रीति' के अर्थ में की है और किसी गोपी की 'नग्नता' को उसका 'वृत्तिवसन' से दूर होना बतलाया है। इस कवि के अनुसार भी किसी सच्चे भक्त का चित्त अपने 'सेव्य' में उस प्रकार ही रम जाना चाहिए जिस प्रकार शृंगारिक आसक्ति की दशा में रमता है।[2] देवनाथ कवि ने जिनकी चर्चा इसके पूर्व की जा चुकी है, 'लावणी' की रचना करके उसके द्वारा विरहभाव की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है तथा उनके शिष्य दयाल नाथ ने भी अपने पदों में इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। आधुनिक अंध कवि गुलाब महाराज के लिए तो यह भी प्रसिद्ध है कि वे अपने को संत ज्ञानेश्वर की कन्या तथा श्रीकृष्ण की पत्नी माना करते थे और 'आंधली गौलिणी' भी कहा करते थे। इस प्रकार कवि गुलाब महाराज के सम्बंध में यह भी उल्लेखनीय है कि वे न केवल मधुरोपासना के एक विवेचक एवं समर्थक मात्र थे, अपितु उसकी भावना के अनुसार निष्ठा रखने वाले स्वयं उपासक भी थे। उनकी माधुर्यभावपरक अनुभूति की तीव्रता, उसकी यथावत् अभिव्यक्तिजन्य सरसता तथा सरलता उनके हृदय की सचाई को भलीभाँति प्रकट करती हैं।

---

१. प्र० न० जोशी : मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति, पृ० ७९-८०

२. वही, पृ० ८५-६

इन मराठी कवियों के अतिरिक्त महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर आदि की रचनाओं में भी हमें मधुरोपासना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्वयं संत ज्ञानेश्वर ने अपने एक अभंग में कहा है, "घन गर्जना हो रही है, वायु बह रही है और मेरी विरहावस्था असहनीय हो रही है।......देवकी के पुत्र के सिवाय किसी अन्य के प्रति मेरी प्रीति नहीं है। चंदन की चोली से मेरी कोमल देह धधक रही है। अतः कान्हा से मेरा मिलाप तुरन्त कराइये......ओह रुक्मिणी के पति विट्ठल ने मुझे इस तरह क्या-से-क्या कर दिया है।" इन्होंने, इस प्रकार की अभिव्यक्ति करते समय कई अन्य स्थलों पर भी राधा के प्रियतम श्रीकृष्ण की चर्चा न करते हुए रुक्मिणी के पति श्री विट्ठल की ही चर्चा की है तथा अपने को स्वकीया प्रेमिका के रूप में ही प्रदर्शित किया है।[१] मराठी में संत नामदेव के भी अनेक अभंग 'गौलणी' (ग्वालिन) के विषय में रचे गए दीख पड़ते हैं और वह वहाँ विरहिणी भी दीख पड़ती है। उनके कई स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी उस रूप में दीख रहे हैं। उन्होंने अपने एक हिन्दी पद में भी इस प्रकार कहा है--

जैसी पर पुरषारतनारी। लोभी नर धन का हितकारी॥
कामी पुरखा कामिनी प्यारी। ऐसी नामै प्रीत मुरारी॥४॥[२]

इसी प्रकार संत तुकाराम की रचनाओं में भी कांताभाव-परक बहुत-से स्थल मिलते हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण एवं गोपियों की केलि का वर्णन भी बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है, किन्तु उनका अपना माधुर्यभाव उससे कम नग्न रूप में चित्रित नहीं पाया जाता। उनका यह भी कहना है--

वालो जनमज म्हणोत शिंदली। परिहा वनमाली न विसवे[३]

१. प्रो० भी० गो० देशपाण्डे : मराठी का भक्ति-साहित्य (वाराणसी १९५९) मुखबंध, पृ० ३३-४
२. नामदेवाचा गाथा (पुणें शके १८५३), पृ० ५२७
३. मराठी का भक्ति-साहित्य, पृ० ३६

अर्थात् लोगों ने मुझे कुलटा भी कहा तो भी मैं इसकी चिन्ता नहीं करती, न कान्हा से अपना सम्बंध-विच्छेद करना चाहती हूँ। इससे उनकी मनोवृत्ति का पूरा परिचय मिल जाता है।

मराठी की संत कवयित्रियों की रचनाओं में भी हमें मधुरोपासना की प्रचुर अभिव्यक्ति की गई दीख पड़ती है। आद्य मराठी कवयित्री महदाइसा वा महदम्बा के लिए तो कहा जाता है कि उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान् की जगह अपने प्रियतम के रूप में उनके अवतार स्वरूप तथा महानुभाव पंथ के प्रवर्तक श्री चक्रधर को ही वरण कर लिया था और ये उनके विरह में बेचैन तक दीख पड़ती थीं। यहाँ तक कि श्री चक्रधर का देहांत हो जाने पर इन्होंने प्रायः उसी प्रकार के भाव फिर नागदेवाचार्य के प्रति भी प्रदर्शित किये। इसी प्रकार संत नामदेव की दासी प्रसिद्ध जनाबाई ने भी अपने को न केवल राधा एवं श्रीकृष्ण की प्रेमक्रीड़ा के समय उनकी सेवा में उपस्थित रहने वाली दासी के ही रूप में चित्रित किया है, अपितु अपने को स्वयं राधा तक भी मान लिया है। ये कहती हैं—

जनीम्हणे देवा मी झाले बेसवा। निवाले केशवा घर तुझे।

अर्थात् जनी कहती है कि हे देव केशव मैं वेश्या जैसी बन गई हूँ और लोक-लज्जा का सर्वथा परित्याग करके आपके घर में रहने लगी हूँ जो परकीया भाव की भी पराकाष्ठा कही जा सकती है।[१] इन संत कवयित्रियों की प्रेमाभक्ति बहुत प्रगाढ़ कही जा सकती है। किन्तु, फिर भी वह उस कोटि तक नहीं पहुँच पाती जो संत कवि ज्ञानेश्वर अथवा संत तुकाराम के अभंगों में विशेष रूप से दीख पड़ती है और जो उनके पुरुष भक्त होने पर भी, यहाँ पर सर्वथा उल्लेखनीय हैं।

डा० प्रह्लाद नरहर जोशी ने अपने प्रबंध ग्रंथ 'मराठी-साहित्यांतील मधुराभक्ति' के अन्तर्गत मराठी कवियों द्वारा किये गए प्रेमाभक्ति सम्बंधी वर्णनों एवं संतकवियों के मधुरोपासना-परक उद्गारों का विवेचन करते

१. मराठी भक्ति साहित्य, पृ० ३७

हुए कहा है कि वहाँ पर हमें उनके विविध रूप मिलते हैं। उन्होंने इन अभि-व्यक्ति-शैलियों के नाम भी, 'स्वरूप-माधुरी', 'चिन्तन-माधुरी', 'विरह-माधुरी', 'मीलन-माधुरी', 'ब्रह्मानंद माधुरी', 'लीला-माधुरी', 'मुरली-माधुरी', एवं 'रास-माधुरी' की क्रमशः चर्चा करते हुए गिनाये हैं और बतलाया है कि इन सभी के उदाहरण मराठी-साहित्य में उपलब्ध हैं। उनका यह भी कथन है कि इन संतकवियों की 'मधुरा-भक्ति' की एक अपनी विशेषता भी है जो अन्यत्र बहुत कम पायी जाती है। इनकी प्रेमानुभूति का स्वरूप प्रायः सर्वत्र अनिर्वचनीय ठहराया गया है, किन्तु उसका 'खेलते ही खेलते' अर्थात् सामान्य दैनिक जीवन के ही बीच प्राप्त हो जाना भी संभव प्रदर्शित किया गया दीख पड़ता है जो एक निराली-सी बात है। इसके सिवाय इन संत कवियों के इस प्रसंग में अन्य अनेक भक्तों की भाँति केवल श्रीकृष्ण को ही प्राधान्य न देकर उनके अति-रिक्त, राम, विट्ठल एवं दत्त तक को भी अपने इष्टदेव के रूप में स्वीकार किया है। ऐसा करते समय, इनकी प्रवृत्ति सदा सबको किसी न किसी प्रकार विट्ठल रूप में ही देखने की भी पायी जाती है। इन संत कवियों की एक विशेषता यह भी है कि ये राधाभाव अथवा गोपीभाव की उन्मादा-वस्था को महत्व देते हुए भी उसे स्वयं स्वीकार करते हुए नहीं दीख पड़ते, प्रत्युत सर्वत्र अपने को मर्यादित स्थिति में ही रखा करते हैं तथा 'नीति-मत्ता' तक को प्रश्रय दिया करते हैं। इनके यहाँ ज्ञान एवं वैराग्य का भाव प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है, किन्तु वह सब कहीं भक्ति के मधुर संमिश्रण के साथ है। इनके रूपक एवं प्रतीक सम्बंधी प्रयोगों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि इन्होंने साधारण तथा विकृत जन-जीवन तक के प्रति अत्यन्त उदार भाव प्रदर्शित किया है। मराठी संत कवियों में से कई एक ने अपनी तीर्थ-यात्राओं के द्वारा आध्यात्मिक जीवन की भावना का विशेषरूप से प्रचार भी किया जिसका एक परिणाम यह हुआ कि उसका प्रभाव उत्तरी

---

१. मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति, पृ० ३७४

भारत तक में दीख पड़ने लगा और वह कुछ अंशों में यहाँ अपना तक भी ली गई।

गुजराती भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

दाम्पत्यभाव तथा मधुरोपासना सम्बंधी बहुत-से उदाहरण हमें गुजराती साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। गुजराती के प्राचीन प्रमुख कवियों में नरसी मेहता एवं मीराँबाई के नाम लिये जाते हैं। इन दोनों की ही रचनाओं के अन्तर्गत हमें इसका पता चल जाता है। नरसी मेहता के प्रसिद्ध पद संग्रह 'श्रृंगार माला' में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ पर इस भक्त कवि ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को प्रत्यक्ष-सा मानते हुए उनके प्रति अपना प्रेम-भाव प्रदर्शित किया है तथा कहीं-कहीं उनकी लीलाओं के प्रत्यक्ष दर्शन का भी वर्णन किया है। इनका यह कथन है कि मैं स्वयं शंकर के साथ ही द्वारका गया था और श्रीकृष्ण एवं राधा के नृत्य के समय मैंने मशाल दिखलाया था। मैं उस अपूर्व दृश्य में इतना मग्न हो गया था कि मेरा हाथ झुलस गया और इसका उस समय भान तक नहीं हो सका; विशेषतः उल्लेखनीय है। "मैंने प्रेमालाप के प्रसंग में उस गोपीवल्लभ का हाथ पकड़ लिया। मैंने किसी अन्य की चिन्ता न की.......मेरा पुरुषत्व जाता रहा। मैं एक स्त्री की भाँति गीत गाने लग गया। मेरा शरीर ही परिवर्तित-सा हो गया और मैं गोपियों में से एक हो गया। मैं एक सखी की भाँति बीच-बचाव करने लगा और मानिनी राधा को मनाने लग गया......उस समय मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी अनुपम माधुर्य रस का अनुभव कर रहा हूँ। जो व्यक्ति राधा के साथ बैठकर गा रहा था वह उसी अवसर से मेरे हृदय में आसीन हो गया।" जैसे नरसी के अनेक हृदयोद्गार इनकी उसी वृत्ति का साक्ष्य देते हैं। यहाँ तक कि जहाँ-जहाँ पर ये अपने उपास्य देव में तल्लीन होकर उनकी लीलाओं का विशद् वर्णन करने लग जाते हैं, वहाँ भी अधिकतर यही प्रतीत होता है जैसे ये अपने लिए ही कह रहे हों। इनका कथन है कि—

लोचन माँहें कामण भरीयुं, ते तो हुं नेहशुं करीयुं रे।
केम मंदिर जाउँ मारी सजनी, मारुं मन एणे हरीयुं रे।

अर्थात् उसकी आँखों में एक विचित्र जादू-सा भरा हुआ है जिसके कारण मैं उसके प्रति प्रेममुग्ध हो गई। मैं अब अपने घर कैसे जाऊं? उसने तो मेरा चित्त ही चुरा लिया है।

तथा-- **मारो नाथ न बोले बोल, अबोला मरिये रे,**
हुं काम करी बैठुं वियोग, हवे शुं करिये रे॥[१]

अर्थात् मेरा स्वामी मुझसे बोल नहीं रहा है। मैं उसके वचनों को श्रवण किये बिना जी नहीं सकती, किसी-किसी प्रकार उसके विरह में तड़प रही हूँ, किन्तु अब क्या करूँ? आदि से जान पड़ता है कि यहाँ पर ये दूसरे के व्याज से स्वयं अपनी ही अनुभूति को व्यक्त कर रहे हैं। कहते हैं कि इन्हें 'विहार चरित्र' का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए 'दिव्य चक्षु' मिला था जिस कारण ये सखीभाव, दूतीभाव अथवा स्पष्ट 'प्रेयसीभाव' तक का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में भी कर सकने में समर्थ थे।[२]

मीराँबाई की बहुत-सी रचनाएँ राजस्थानी में पायी जाती हैं और ये हिन्दी कवयित्री कहलाकर अधिक प्रसिद्ध हैं। नरसी मेहता एवं मीराँबाई के अतिरिक्त प्रेमानंद सखी (१७७९-१८४५) भी एक ऐसे गुजराती भक्त कवि थे जिनकी मधुरोपासना यहाँ पर उल्लेखनीय है। ये प्रेमानंद, उस प्रेमानंद से भिन्न थे जिनका आविर्भाव काल सत्रहवीं शताब्दी में कहा जाता है और जिनके अनेक प्रेमाख्यान भी उपलब्ध हैं। ये स्वामि नारायण संप्रदाय के अनुयायी थे और उसके प्रवर्त्तक स्वामी सहजानंद को स्वयं श्रीकृष्ण रूप समझा करते थे। इन्होंने अपने को उन श्रीकृष्ण की एक अन्तरंग गोपी के

---

१. **K. M. Munshi: Gujrat and its Literature (Bombay 1954) p. 190-1.**

२. **केशवराम का० शास्त्री : गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन (अहमदाबाद १९५१), पृ० १०३**

स्थान पर समझ लिया था और इसी कारण, इन्हें 'सखी' भी कहा जाता था।[१] इनकी कविता में वैसी विलक्षण प्रतिभा नहीं दीख पड़ती जैसी दयाराम के मनोहर गीतों में पायी जाती है, किन्तु जहाँ तक प्रेमाभक्ति विषयक गंभीर अभिव्यक्ति का प्रश्न है ये उस दृष्टि से सिवाय नरसी एवं मीराँ के किसी अन्य गुजराती कवि से कम सफल नहीं कहे जा सकते। दयाराम के लिए भी कहा गया है कि उन्होंने एकाध स्थलों पर "मैंने गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण को वरण कर लिया है और मेरे लिए कोई अन्य स्वामी नहीं हो सकता" जैसे भाव प्रकट किये हैं। परन्तु वे फिर भी मधुरोपासना से अधिक उत्कृष्ट कवि के रूप में विख्यात हैं। इनके 'गर्बी' गीतों के अन्तर्गत अनेक ऐसे मर्मस्पर्शी स्थल मिलते हैं जिनका अन्यत्र पाया जाना अत्यन्त कठिन है।

बँगला भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

बंगला काव्य की आदि कालीन रचनाओं के अन्तर्गत हमें मधुरोपासना का एक विचित्र रूप उपलब्ध होता है। यह विशेष रूप से भक्त प्रवर चंडीदास की पदावली में दीख पड़ता है जो साधारणतः बौद्ध सिद्धों की तांत्रिक साधना द्वारा प्रभावित है। चंडीदास बौद्ध सिद्धों वाले सहजयान की महामुद्रा साधना में आस्था रखते थे और कहा जाता है कि ये उसके प्रत्यक्ष साधक भी थे। इनके अनुसरण में प्रचलित वैष्णव सहजिया संप्रदाय के अनुयायियों की रचनाओं में भी इस प्रकार की भावना कम नहीं मिलती। चंडीदास इस प्रकार की साधना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले अनर्थों से भलीभाँति परिचित थे जिस कारण उन्होंने इस प्रक्रिया को "सर्प के मुख में मेढक का नृत्य करना" जैसा कठिन कार्य कहा है। इसमें पूर्णतः सफल होने वाले के विषय में बतलाया है कि यह भी वैसा ही निपुण कहा जा सकता है जैसा किसी सूत्र के बल पर सुमेरु पर्वत को लटकाने वाला वा मकड़ी के

१. **K. M. Munshi: Gujrat and its Literature, p. 268.**

जाले से मातंग को बाँधने वाला।[1] स्वयं चंडीदास ने फिर भी, इस प्रकार की साधना का परित्याग नहीं किया तथा अपने ढंग से ही वे सदा पद-रचना भी करते रहे। उनका प्रेमासवित-सम्बंधी चित्रण और उनकी भावा-वेश-परक उवितयाँ कदाचित् वैष्णवभक्ति-साहित्य में बेजोड़ हैं। परंतु इस प्रकार की भावधारा का अविच्छिन्न प्रवाह पीछे सब किसी को उसी भाँति अच्छा नहीं लग सका। श्री चैतन्य महाप्रभु जैसे महापुरुषों को भी इसकी प्रतिक्रिया में सारे नारी समाज तक के संसर्ग को भवित-साधना के लिए बाधक ठहराना पड़ गया। चंडीदास ने, वस्तुतः मानव चित्त को वृन्दावन की पवित्र भूमि का पद प्रदान करके उसमें श्रीकृष्ण एवं राधा के पारस्परिक प्रेम-व्यवहार तथा उनकी विविध लीलाओं के संघटन की कल्पना की थी तथा उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति जैसा वर्णन भी किया था। उनकी राधा, वास्तव में जीवात्मा का स्थान ग्रहण करती है तथा उनके श्रीकृष्ण स्वयं उस परमात्मा के स्थानापन्न हैं जो प्रेमी साधक के लिए उपास्यदेव हैं। राधा का पूर्वराग, उसका अभिसार, उसका प्रेमविरह तथा संभोग मिलन, ये सभी उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की बातें रहा करती हैं। इसी कारण, पौराणिक श्रीकृष्ण एवं राधा का पारस्परिक संयोग भी अंत में, उसके 'भावसम्मि-लन' में ही परिणत हो गए प्रतीत होते हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके अनुयायी वैष्णव भक्तों ने चंडीदास की उपर्युक्त सैद्धांतिक बातों को अपनाने में तनिक भी संकोच नहीं किया, प्रत्युत श्रीकृष्ण के प्रति राधा की ओर से प्रकट किये जाने वाले परकीया प्रेमपरक भाव को ही विशेष महत्व भी दिया। अतएव, इनके यहाँ हमें उस प्रकार के स्वकीया प्रेमपरक भाव के उदाहरणों का प्रायः अभाव-सा ही दीख पड़ता

---

१. सापेर मुखेते भेकेर नाचाबि, तबेत रसिक राज
येजन चतुर, सुमेरु शेखर, सूताय गाथिते पारे।
माकड़सार जाले, मातंग बाँधिले, एरस मिलये तारे॥
Quoted in Bengali Language and Literature by D. C. Sen (Calcutta 1911) p. 40.

है जो रुक्मिणी वल्लभ विट्ठल के उपासक महाराष्ट्रीय भक्तों की रचनाओं के अन्तर्गत यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होते हैं। किन्तु, ऐसा होते हुए भी इन उपासकों का दावा है कि इस प्रकार की भावना केवल उसी समय संभव होती है जब साधक की मनोदशा स्थिति विशेष की हुआ करती है—"जब कभी जीवात्मा को परमात्मा का विशुद्ध आभास हो जाया करता है, उपासक श्रीकृष्ण के वृन्दावन आगमन का रूपक अपना लिया करता है। इसी प्रकार जब कभी इसका रूप धूमिल पड़ जाता है तो उसके लिए उनका मथुरा चला जाना जान पड़ने लगता है।"[१] श्री चैतन्य महाप्रभु का भी, इसीलिए कहना है कि "जिस प्रकार कोई नवयुवक अपनी प्रेयसी के लिए आकुल रहा करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा के प्रति अपना आर्त्त भाव प्रकट करती है। इससे अधिक उपयुक्त अन्य तुलनीय उदाहरण के अभाव में ही वैष्णवों ने इस प्रकार की भावना द्वारा अपने इष्टदेव की उपासना करना अंगीकार किया है।[२] उनके अनुयायियों ने, इसी कारण, स्वयं उनके भी प्रेमभाव में राधाभाव की कल्पना की तथा उसे 'महाभाव' तक की संज्ञा दे डाली। गोविंददास प्रभृति अनेक ऐसे वैष्णव कवियों ने उपर्युक्त भावना के ही अनुरूप 'ब्रजबुलि' नाम की भाषा विशेष का माध्यम अपनाना अधिक उपयुक्त समझा तथा उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' जैसे ग्रंथों के आधार पर उसके अनुसार विविध प्रसंगों का चित्रण भी किया।

डा० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय ने श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्त्तित उपर्युक्त वैष्णव धर्म तथा, इसी प्रकार, सोलहवीं ईसवी शताब्दी में रचित हिंदी एवं बँगला गीति कविताओं का सूफ़ी प्रभाव द्वारा प्रभावित होना बतलाया है जिसकी चर्चा डा० सुकुमार सेन ने अपनी पुस्तक 'बांगला साहित्येर इतिहास' में की है और उन्होंने बतलाया है कि डा० चट्टोपाध्याय ने अपने मत का आधार निर्दिष्ट करते समय (१) ईश्वर के प्रेमिक

---

१. Dr. D. C. Sen: History of Bengali Language and Literature, pp. 535-6.

२. Do p. 536.

रूप की कल्पना (२) नृत्य गीतादि उच्छ्वसित भजन (३) भावावेग की मूर्छापन्न दशा तथा (४) विशेष भावभंगी का उल्लेख किया है।[१] डा० सेन को यह मत स्वीकार नहीं है जिसके लिए उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' एवं जैन कवि साधकों की रचनाओं को भी उद्धृत किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उक्त चारों ही बातें, वास्तव में, सूफ़ियों के यहाँ आने के पहले से ही विद्यमान थीं। सूफ़ियों का प्रभाव सत्रहवीं ईसवी शताब्दी से पड़ना आरंभ हुआ जो फिर बहुत पीछे तक कायम रहा। डा० सेन ने प्रथम के उदाहरण में जैन मुनि राम सिंह रचित इस पद्य को उद्धृत किया है--

सहि सहि काँइ करइ सो दप्पणु। जहि पडि बिंबु न दीसइ अप्पणु।
धंधवालु मो जगु पड़ि हासइ, धरि अच्छंतु न धरवइ दीसइ॥१२२॥[२]

अर्थात् हे सखी, भला उस दर्पण का क्या करना, जहाँ अपना प्रतिबिंब न दिखे? मुझे यह जगत लज्जावान् भासता है। घर में रहते हुए भी गृहपति का दर्शन नहीं होता। उन्होंने दूसरे के उदाहरण में भी दिया है--

एवंव्रतः सः प्रियनाम कीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्ता उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रोति गायत्युन्मादवन् नृत्यति लोक वाह्यः॥[३]

परंतु इसी प्रसंग में उन्होंने, वैष्णव-काव्य एवं सूफ़ी प्रेम-काव्य में मौलिक पार्थक्य दिखलाते समय अपना यह मत भी प्रकट किया है कि वैष्णव भक्ति-साधना में, जहाँ भक्त एवं भगवान के मध्य किसी सखी वा दूती का भी मिलन के लिए होना 'अपरिहार्य' है, वहाँ सूफ़ी प्रेम-साधना के विषय में भी ऐसा नहीं कहा जा सकता जो, कदाचित्, तथ्य के विरुद्ध भी जाता समझा जा सकता है। सूफ़ी कवियों की प्रेम-गाथाओं में भी हम प्रायः सर्वदा

---

१. बांगला साहित्येर इतिहास, पृ० २८३
२. सं० हीरालाल जैन : पाहुड़ दोहा (कारंजा सं० १९९०) पृ० ३६
३. श्रीमद्भागवत (स्कंध ११, अध्याय १, श्लोक ३८)

किसी न किसी ऐसे मध्यस्थ की कल्पना की गई देखते हैं जो महत्वपूर्ण अवसर पर काम दिया करता है। उसे कहीं-कहीं तो तोते वा मैने के रूप में दिखलाया गया है और कहीं-कहीं परी वा सखी के रूप में भी प्रदर्शित किया गया है। कहीं-कहीं पर वह 'जोगी,' 'विप्र' अथवा अन्य ऐसे नामों के साथ भी आया है और उसे सद्गुरु वा पीर की जगह भी स्वीकार कर लिया गया है। ऐसी दशा में हम सहसा यहाँ पर किसी मध्यस्थ के अभाव का आरोप नहीं कर सकते। हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि सूफ़ी कवियों की रचनाओं में जहाँ हमारा ध्यान अधिकतर प्रेमी साधकों की विविध बाधाओं तथा कठिनाइयों तक ही केंद्रित रह जाता है और किसी मधुर-मिलन के वर्णन की ओर कम आकृष्ट हो पाता है, वहाँ वैष्णवों की रचनाओं में हमें विभिन्न प्रेम-केलियों के भी उदाहरण मिल जाते हैं।

बंगाल प्रांत में जिस प्रकार वैष्णव सहजिया तथा गौड़ीय वैष्णव संप्रदायों का प्रचार हुआ, उसी प्रकार एक अन्य भी ऐसा ही संप्रदाय क्रमशः प्रचलित हो चला जो 'बाउल संप्रदाय' कहलाता था और जिसकी प्रेम-साधना में भी मधुरोपासना के अनेक लक्षण विद्यमान समझे जा सकते थे। बाउल संप्रदाय के अनुयायी अधिकतर मुसलमान हुआ करते थे और वे सूफ़ियों से मिलते-जुलते भी थे। परंतु उनकी कई विशेषताएँ भी थीं। उनकी साधना की चरम परिणति मनेर मानुष, अधर मानुष, अटल मानुष, सहज मानुष, रसेर मानुष, सोनार मानुष, आलोक मानुष वा भावेर-मानुष नामधारी उस हृदय-विहारी परमात्मा को प्राप्त और आत्मसात् कर लेने में होती थी जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्गत सत्य रूप में विराजमान होता हुआ भी, कभी उसकी पकड़ में नहीं आता, प्रत्युत जो सदा पहुँच के बाहर-सा ही बना प्रतीत होता है।[१] इसके लिए वे लोग एक प्रकार की योग-साधना करते थे जो 'तीन दिनों' की हुआ करती थी और जिसके द्वारा मूलाधार में अवस्थित रजोरूपिणी शक्ति को उर्ध्वमुखी करके उसका

१. उपेन्द्रनाथ भट्टाचार्य : बांगलार बाउल ओ बाउलगान (कलिकाता, बं० १३६४) पृ० ९१

सहस्रार स्थित 'अचंचल वीज' के साथ मिलन करा दिया जाता जिससे काम एवं प्रेम का परस्पर मिलन, नीर एवं क्षीर जैसा हो जाता था। इसके साधकों की धारणा थी कि इस प्रकार 'द्विदलपद्म' वा आज्ञाचक्र के निकट प्रकृति एवं पुरुष का मिलन हो जाता है जिसके फलस्वरूप उन्हें 'अपरिसीम श्रृंगारानंद की अनुभूति' होने लगती है और यही मूलतत्व वा परमतत्व की उपलब्धि जन्य 'महोल्लास' की भी दशा कहलाया करती थी। इस प्रक्रिया को बाउल साधक 'महायोग' की भी संज्ञा देते थे तथा इसके परिणाम को 'सहजावस्था का लाभ' कहा करते थे। उपर्युक्त 'तीन दिनों' का समय वस्तुतः रजःस्राव की अवधि के अनुसार निश्चित किया गया था और नीर एवं क्षीर के उक्त मिश्रण अथवा काम एवं प्रेम के पारस्परिक संयोग की दशा में हंसवत् नीर से क्षीर को वा प्रेम का काम से पृथक् कर उसे अपना लेना ही अंतिम उद्देश्य समझा जाता था।[१] अतएव 'सहज मानुष' वा 'मनेर मानुष' का स्वरूप उस प्रकृति-पुरुष वा 'रजोबीज' मिलन जन्य निविड़ आनंदावस्था से भिन्न नहीं था जो उक्त प्रक्रिया का परिणाम समझी जा सकती थी। जो वास्तव में किसी नारी एवं पुरुष के संभोगार्थ मिलन की ही उदात्त दशा के समान थी।[२] प्रत्यक्ष है कि बाउलों की इस उपासना में भी तांत्रिक-साधना का अंश प्रचुर मात्रा में प्रवेश कर गया था जिससे यह विशुद्ध मधुरोपासना नहीं रह गई थी।

फिर भी, यदि बाउलों की प्रेम-साधना का अध्ययन, वैष्णव सहजिया भक्तों की साधना के साथ किया जाय तो पता चलेगा कि कुछ दृष्टियों के अनुसार, यह उसकी अपेक्षा मधुरोपासना के अधिक निकट भी कहला सकती है। वैष्णव सहजिया साधकों का कहना है कि आदर्श प्रेम केवल राधा एवं कृष्ण के अलौकिक प्रेम में ही व्यक्त हुआ करता है। प्रत्येक व्यक्ति को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं जिनमें से एक उसका भौतिक 'रूप'

---

१. उपेन्द्रनाथ भट्टाचार्य: बांगलार बाउल ओ बाउलगान (कलिकाता, बं० १३६४) वही, पृ० ३७३-९८

२. वही, पृ० ४२१

है और दूसरा उसका आध्यात्मिक 'स्वरूप' है जिसे हम 'राधा' एवं 'कृष्ण' का नाम दे सकते हैं तथा जिसे हम यदि चाहें तो 'रूप' की साधना द्वारा उपलब्ध भी कर सकते हैं। परन्तु इस प्रकार की साधना के माध्यम से हम 'रूप' को 'सरूप' में सर्वथा परिवर्तित नहीं कर सकते। केवल प्रेम-तत्व लौकिक स्तर से अलौकिकता की सीमा तक इसके द्वारा पहुँचाया जा सकता है। तदनुसार, सहजिया वैष्णव भक्तों के मत से ब्रह्म एवं जीवपरक द्वैत-भावना का लोप नहीं हो पाता, दोनों का सम्बंध 'अचिंत्य' मात्र बन जाता है। परंतु, बाउलों की प्रेम-साधना में इस प्रकार के किसी 'आरोप-वाद' की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। ये उस ब्रह्म वा परमात्मतत्व के प्रति सीधे प्रेम करने की चेष्टा किया करते हैं और उसे ही अपने हृदय में विद्यमान 'मनेर मानुष' का नाम भी दे देते हैं। उनकी प्रेम-साधना का रूप, इस प्रकार, 'आत्मसाधना' जैसा लगता है, जहाँ सहजिया प्रेम-साधना प्रेम लक्षणा भक्ति का ही एक रूप है।[1] बाउलों को हम इस दृष्टि से सूफ़ी साधकों अथवा निर्गुणवादी संतों के कहीं अधिक निकट पाते हैं, जहाँ सहजिया वैष्णओं को हम उन कृष्ण भक्तों की भाँति साधना करते हुए देखते हैं जो अपने इष्टदेव के युगलस्वरूप की नित्य लीला में ही मग्न रहा करते हैं। इसी कारण, वैष्णव सहजिया भक्तों के लिए जहाँ मुद्रा-साधना की भी आवश्यकता पड़ जाती है, वहाँ बाउलों को हम उसके प्रति प्रायः उपेक्षा का ही भाव प्रदर्शित करते हुए पाते हैं और इनके ऊपर पड़ा हुआ तांत्रिक प्रभाव भी उतना नग्न रूप नहीं धारण कर पाता। इनकी साधना में मधुरोपासना का विशुद्ध रूप केवल इसलिए नहीं आ पाता कि ये वहाँ दाम्पत्य रूप का अपनाना भी अनिवार्य नहीं समझा करते, न इसी कारण, अपने 'मनेर मानुष' को ये स्पष्टतः वह रूप भी दे पाते हैं जो प्रियतम 'पति' का ही हो सकता है।

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : मध्यकालीन प्रेम-साधना (प्रयाग, १९५७ ई०) पृ० ९८-९९

उड़िया भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

श्री चैतन्य महाप्रभु की भावधारा का प्रभाव उत्कल प्रांत के साधकों पर भी कम नहीं दीख पड़ा। वहाँ के उन भक्तों पर जो बौद्ध धर्म द्वारा अनुप्राणित होते हुए भी, वैष्णव धर्म के अनुयायी कहे जाते रहे उनकी कीर्त्तन प्रधान साधना ने जादू-सा काम किया। ओड़िया भाषा के प्रमुख मध्यकालीन कवियों में पंचसखा वा पंचमहापुरुष का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया जाता है। 'पंचसखा' के अन्तर्गत गिने जाने वाले पाँच भक्त कवियों में से सभी वस्तुतः निर्गुण शून्य के उपासक थे जो श्रीकृष्ण से भी भिन्न नहीं था। अतएव उनके द्वारा अपनायी गई साधना में भी हमें ज्ञान एवं योग की ही प्रधानता लक्षित होती है। सगुणोपासक भक्तों जैसी भक्ति को वहाँ पर कोई स्थान नहीं है। परंतु 'पंचसखा' भक्तों में से ही अन्यतम अच्युतानंद दास की एक छोटी-सी रचना 'नित्यरास' द्वारा पता चलता है कि उन्होंने यहाँ पर योग एवं तंत्रपरक साधनाओं को एक संश्लिष्ट रूप देकर भी उसके द्वारा श्रीकृष्ण एवं राधा के नित्य विहार का ही वर्णन कर दिया है। उनके अनुसार "फुल्ल विकसित सहस्रार कमल के ऊपर नित्य राधा निरंतर अपनी 'रति' में लीन हैं और वहीं से सारे विश्व की सृष्टि भी हुआ करती है।' अतएव उनका यह भी कहना है कि कुंडलिनी द्वारा शक्ति-साधना करते समय हमें उस कृष्ण को प्राप्त करना होगा जो इड़ा-पिंगला एवं सुषुम्ना के संधिस्थल पर कहीं अपने को अंतर्हित किये रहते हैं तथा जो राधा के कुचों पर निरंतर अमृत-स्राव भी करते रहते हैं। उनके उसी स्थान पर १६००० गोपियाँ भी रहती हैं जो उनकी सेवा में त्रिपुरा के साथ लीन रहती हैं। वह सहस्रार कमल ही वस्तुतः वृन्दावन भी है जो औंधी दशा में रहता है तथा जहाँ पर श्रीकृष्ण राधा के अंगों पर अपने चरण रखते और उनकी कटि के ऊपर विश्राम किया करते हैं।[1] इसी प्रकार महापुरुष

---

१. **Chittaranjan Das: Studies in Medieval Religion and Literature, of Orissa (Visva Bharati Annals. Vol. IV, 1951) p. 137.**

यशोवंत दास ने भी, योगसाधना पर पूरा बल देते हुए 'गोपीभाव' की प्राप्ति को ही लक्ष्य माना है जिससे श्रीकृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम जागृत होता है तथा जिससे प्रभावित समाधि की दशा में ही त्रिकुटी के ऊपर श्रीकृष्ण एवं राधा का 'नित्यरास' देखा जा सकता है। महापुरुष अनंत दास का तो कहना है कि 'गोपी प्रेम' ही मुक्ति का एक मात्र उपाय है और योगसाधना ही प्रेम की नदी है।[१] पंचसखा भक्तों में से ही जगन्नाथ दास के विषय में कहा जाता है कि वे स्त्रियों का वेश धारण किया करते थे जिससे पत्नीत्व की गंभीर भावना का अनुभव कर सकें। उन्होंने अपनी एक रचना में कहा है कि "मैं गोपियों की दासी हूँ। इसलिए हे प्रभो, मुझ पर कृपा करो" और इससे उनके सखीभाव का भी संकेत मिलता है[२]।

हिन्दी भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत मधुरोपासना का भाव हमें प्रचुर मात्रा में चित्रित किया गया दीख पड़ता है। संत कबीर साहब से लेकर संतमत के प्रचारक अन्य अनेक संत कवियों की रचनाओं में यह विशेष रूप से लक्षित होता है जिसका एक प्रत्यक्ष कारण, कदाचित् यह भी हो सकता है कि इन लोगों की साधना प्रधानतः स्वानुभूति-परक थी जिसमें आत्म-समर्पण का भाव भी अधिक से अधिक सीमा तक निहित पाया जा सकता। तथा वह अंत में, पूर्ण अभेद भाव तक की कोटि तक पहुँच जा सकती थी। ये संत लोग साधारणतः 'निर्गुणी' कहलाकर भी प्रसिद्ध हैं और प्रायः यह समझ लिया जाता है कि ये किसी निरे 'गुणरहित' परम तत्व के उपासक होंगे। परंतु इनकी उपलब्ध बानियों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने पर हमें यह

---

१. राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रन्थ (उत्कलप्रांतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, कटक) पृ० १४५-६

२. Prabhat Mukerji: The History of Medieval Vaishnavism in Orissa (Calcutta, 1940) p. 15.

स्पष्ट होते भी देर नहीं लगती कि यह वास्तव में, हमारी भूल है। इन संतों का उपास्य देव कोई ऐसी सत्ता है जिसे हम न तो सहसा सगुण और न निर्गुण की ही श्रेणी में रख सकते हैं। वह इन दोनों से विलक्षण है और उसकी विशिष्टता का स्पष्ट बोध न होने के कारण ही उसे यहाँ हम 'अनिर्वचनीय' तक बतलाया जाता हुआ देखते हैं। फलतः इसका एक परिणाम यह भी हुआ है कि संतों ने उसे अगम, अगोचर आदि ठहराते हुए भी उसे ही प्रत्यक्ष मानवीय जैसा तक रूप दे डाला है। इस प्रकार, जिसे हम यों अरूप एवं अलेख समझ लिया करते हैं उसे इन्होंने एक विशिष्ट व्यक्तित्व तक प्रदान करा दिया है। उसके लिए ये प्रायः किसी परोक्ष सत्ता की कल्पना करते हुए से प्रतीत होते हैं, किन्तु, वस्तुतः वह इनकी दृष्टि में निर्भ्रान्त रूप से, अपने समक्ष विद्यमान है। ये उसकी सुनिश्चित उपस्थिति का असंदिग्ध अनुभव करते जान पड़ते हैं, किन्तु उसके साथ इनकी तल्लीनता इतनी प्रगाढ़ बन जाती है कि ये उसकी इयत्ता की कोई कल्पना तक भी नहीं कर पाते, न इसी कारण, उसके विषय में कुछ कह सकने में ही समर्थ होते हैं। यदि ये कभी कुछ प्रकट भी करने लगते हैं तो वह इन्हें अधूरा मात्र-सा लगता है, जिस कारण ये उसे तत्क्षण बदल देते हैं और दूसरे ढंग से कहने लगते हैं। यदि वह भी इन्हें संतोषजनक नहीं जान पड़ता तो, फिर तीसरी एवं चौथी-पाँचवीं वर्णनशैली तक को अपनाया करते हैं। यहाँ तक कि इनके द्वारा किया गया इस प्रकार का सारा परिचयात्मक उल्लेख नितांत परस्पर विरोधी उक्तियों का एक संग्रह मात्र-सा बनकर रह जाता है। ये अपनी निजी अनुभूति का स्पष्ट रूप तक भी निर्धारित नहीं कर पाते, प्रत्युत उसमें केवल आनंद-विभोर बनकर कुछ कहते मात्र दीखते हैं। ऐसी दशा में इन संतों ने जो कुछ उद्गार अपने तथा अपने उपास्य देव के पारस्परिक सम्बंध के विषय में प्रकट किये हैं वे यथार्थ में उनकी स्वानुभूति की विशिष्ट गंभीरता के ही परिचायक हो सकते हैं। वे वस्तुतः ऐसे किसी प्रत्यक्ष लगाव का अक्षरशः सत्य होना भी नहीं सूचित करते, न उनके आधार पर ही हमें यह कहने का भी अधिकार प्राप्त है कि ये उसे उसके भौतिक रूप में भी

स्वीकार करते होंगे। इसके सिवाय यदि इनके यहाँ एक ही परमतत्व कभी 'सत्गुरु' कभी 'स्वामी' कभी 'भरतार' कभी 'सखा' और कभी 'जननी' तक के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तथा तदनुसार उसके साथ उपासक का सम्बंध क्रमशः 'चेला', 'बहुरिया,' 'साथी' अथवा बालक तक की दृष्टि से परिवर्तित होता चला जाता है तो उस विचार से भी हमारा संतों की ऐसी निष्ठा को अधिक महत्व देना उतना आवश्यक नहीं जान पड़ता। फिर भी संतों की मधुरोपासना विषयक रचनाएँ अपना एक पृथक् मूल्य रखती हैं और वे यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संतों की इस आध्यात्मिक मनोवृत्ति के लिए हम कह सकते हैं कि वह एक विशुद्ध 'भाव-भगति' का ही रूप है। इसके लिए किसी प्रत्यक्ष उपकरण, उपचार अथवा वेश-भूषा के आयोजन अपेक्षित नहीं, न इसकी सिद्धि के लिए किसी ऐसे मध्यस्थ का होना ही अनिवार्य है जिनके नाम सगुणोपासकों के यहाँ 'सखी', 'दूती' वा 'सेवक' जैसे रूपों में लिये जाते हैं। इनकी अनुभूति मूलतः 'स्व' की ही अनुभूति है, जिस कारण यहाँ पर किसी ऐसे भाव के भी जागृत होने की गुंजाइश नहीं जिसे श्रीकृष्ण के उपासक सगुण भक्तों ने अपने को राधा का स्थान देकर स्वभावतः 'परकीयात्व' के रूप में स्वीकार किया है। इनके प्रधानतः अद्वैतवादी वा अभेदवादी होने के कारण उस प्रकार का कोई प्रश्न ही नहीं उठा करता। ये सदा विशुद्ध स्वकीया बन कर ही हमारे सामने आते दीख पड़ते हैं। ये कभी-कभी उस अलख, अरूप और अगोचर के साथ अपने विधिवत् परिणीत होने तक के गीत गाते हुए पाये जाते हैं। ये अपने ऐसे 'वर' के ही प्रति कभी अनुनय-विनय करते हैं, कभी उपालंभ की बातें आरंभ कर देते हैं और अधिकतर उसके विरह की बेचैनी में तड़पते और झूरते तक मिलते हैं।

संत-साहित्य में मधुरोपासना

इन संत कवियों में से कबीर साहब की रचनाओं में हमें ऐसे प्रायः सभी प्रकार के भावों के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। उन्होंने अपनी ऐसी साधना

को 'भावभगति' की संज्ञा देते हुए उसे 'हरिसूं गठ जोरा' कहकर भी स्पष्ट कर दिया है।[1] ये अपने 'राजाराम' के 'भरतार' वत् घर पधारने पर 'दुलहनी' बन कर 'मंगलचार' का गान करना चाहते हैं। उसके आगमन के उल्लास में 'जोबन मदमाती' तक बन उठते हैं। उसके साथ इनके विवाह की 'वेदी' भी 'सरीर सरोवर' में ही रच दी जाती है, जहाँ ये उसके साथ विधिवत् 'भाँवरि' भी लेते हैं। अंत में, ये उस 'पुरिष एक अविनासी' से वैवाहिक सम्बंध सम्पन्न करके पूर्ण संतोष प्रकट करते हुए भी जान पड़ते हैं।[2] इन्होंने उस योगपरक-सी समझ पड़ने वाली अपनी साधना को भी 'प्रेम भगति' का ही नाम दिया है जिसकी दशा में सहस्रार स्थित चंद्रमा से अमृत-स्राव होने लगता है। इनका आदर्श उस अनुपम सती साध्वी स्त्री का है जो न केवल सर्वदा एक भाव के साथ अपने 'पीव' के प्रति एकनिष्ठ रहा करती है, अपितु जो यह भी संकल्प किये रहती है कि उसके वियोग की दशा में अपने प्राणों तक को न्योछावर कर देगी। वास्तव में इन्होंने अपने मन का 'सार' बतलाते समय भी सबसे पहले इस प्रकार की 'सती' के ही आदर्श को सामने रखा है।[3] इनकी उपलब्ध रचनाओं में हमें पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव अत्यंत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया दीख पड़ता है और इनका इस प्रसंग में इस प्रकार कहना कि "मेरा तो मुझ में कुछ भी है ही नहीं जो कुछ भी वह तेरा ही तेरा है। इसलिए तेरी ही वस्तु को तुझे सौंपते हुए मुझे लगता ही क्या है?"[4] बहुत उपयुक्त कथन कहला सकता है।

संत दादूदयाल ने भी इस विषय में कबीर साहब का ही अनुसरण किया है और स्पष्ट कह दिया है, "मेरा भी 'कंत' वही है जो कबीर का था और मैं भी ठीक उसी 'वर' का वरण करूंगा तथा 'मनसा वाचा' किसी

---

१. कबीर ग्रंथावली (पद २१३, पृ० १६०)
२. वही (पद १, पृ० ८७)
३. वही (साखी २, पृ० ६३)
४. वही (साखी ३ पृ० १९)

प्रकार भी कोई दूसरा भाव नहीं रखूँगा।[1] इन्होंने अपने 'ज्ञान' वा मत का एक परिचय देते समय भी कहा है कि "यह स्थूल शरीर, यह मन और सारे पिंड प्राणादि तेरे हैं, केवल 'तू' ही मात्र मेरा है[2] जिसके अन्तर्गत इनकी उस मधुरोपासना का भी पूरा भाव आ जाता है जिसे इन्होंने संत कबीर साहब के अनुसरण में अपनाया है। संत दादू दयाल के विरह-सम्बंधी उद्गार अत्यंत मार्मिक हैं और वे किसी भी विरहिणी पत्नी के भाव भरे हृदय से निकले हुए करुण-क्रंदन से कम चुटीले नहीं कहे जा सकते। इनके अनुयायियों में से भी कम से कम संत रज्जबजी और संत सुंदर दास की रचनाएँ इस सम्बंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संत रज्जबजी की उक्तियाँ बहुत कुछ सूफ़ियों के ढंग की भी जान पड़ती हैं, किन्तु उनमें इनकी स्वानुभूति भरी बातें कूट-कूट कर भरी हुई हैं। संत सुंदर दास की रचनाओं में हमें ऐसे अनुभवों के साथ-साथ कुछ वर्णन-शैली की सुगढ़ता भी लक्षित होती है जो कदाचित् उनके पांडित्य के कारण होगी। इनके यहाँ भाव-सौन्दर्य है, भाषा-लालित्य है और कथन-शैली की मर्मस्पर्शी भंगिमा भी है। परंतु कहीं-कहीं उन पर प्रचलित रीति कालीन प्रभाव के आ जाने के कारण उतनी स्वानुभूति का रंग भी चढ़ा हुआ नहीं दीख पड़ता जो संत दादूदयाल की पंक्तियों पर प्रत्यक्ष है। इस दृष्टि से, कदाचित्, उनके एक अन्य अनुयायी बषनाजी की ऐसी रचनाओं में हमें कहीं अधिक सफलता दृष्टि-गोचर हो सकती है।

सिख गुरुओं में से भी कई एक ने दाम्पत्यभाव विषयक बहुत-सी बातें

---

१. जेथा कंत कबीर का सोई वर बरिहूं
मनसा वाचा कर्मना, मैं और न करिहूं ॥ (दादूदयाल की वाणी, च० प्र० त्रिपाठी, पीव पिछाण कौ अंग ३४, पृ० २७९)

२. तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान।
सब कुछ तेरा, तूं है मेरा, यहु दादू का ज्ञान ॥ (वही, सुन्दरी को अंग २३, पृ० ३३०)

कही हैं जो उल्लेखनीय हैं। स्वयं प्रथम गुरु नानक ने एक स्थल पर कहा है, "अरी मा, पता नहीं क्या होने जा रहा है, मुझे तो हरि के दर्शन बिना रहा ही नहीं जाता"। उन्हें इस बात की चिंता भी है कि हरि 'कंत' की प्यारी किस प्रकार हुआ जाय, क्योंकि और सभी जब जगे हुए जान पड़ते हैं, वहाँ उन्हें रात-दिन सोना ही सोना रहा करता है।[1] उन्हें अपने प्रियतम के विरह में साधारण विरहिणी जैसे रात के समय पपीहे की बोली बुरी नहीं लगती है। उनका कहना है कि जिस प्रकार चातक एवं मीन को केवल जल के द्वारा ही सुख प्राप्त हो पाता है और उन्हें 'सारंग' के शब्द अच्छे लगा करते हैं वैसे ही मुझे भी अपने लिए उसके शब्द सुखदायक लगते हैं।[2] वास्तव में जो पत्नी अपने प्रियतम के गले लगी रहा करती है और जिसे 'सभी कुछ तेरा है और तू मेरा है' की भावना में रँग जाना आता है उसे पपीहे की 'पिउ-पिउ' अथवा कोकिल के शब्द क्यों न सुहावने लगा करें? उनका तो यही कहना है,

ना कोई मेरा हउ किस केरा हरि बिनु रहणु न जाई।

जो हरि के ऊपर 'मरणु जीवणु' तक समर्पित करने की मनोवृत्ति का भी सूचक है।[3] इसी प्रकार चौथे गुरु रामदास का कहना है कि "हरि-दर्शन के लिए मेरा मन, प्यासे को जैसे नीर के लिए व्याकुलता होती है वैसा व्याकुल है। मेरी वेदना को केवल हरि प्रभु ही जानता है, क्योंकि वह मेरे मन के भीतर की बात है। जो मेरे उस 'प्रीतम' की बात सुनाये वही मेरा भाई है। अरी मेरी सखि, आ मुझसे मिल ले और मेरे 'प्रभु' के गुणों का गान कर वही मेरी आशा पूरी करेगा और उसी से शरीर को

---

१. आदिग्रंथ रागुआसा, महला १, पद २६ (अमृतसर खालसाप्रेस) पृ० ३५६-५७

२. आदिग्रंथ रागुमलार, महला १, पद ३, पृ० १२३७

३. वही, तुषारीछंत २-३, पृ० ११०५-६

शांति मिलेगी।"[१] तीसरे गुरु अमर दास ने तो सच्ची प्रेमिका बन उसके वास्तविक प्रियतम की यह एक पहचान भी बतलायी है कि उन्हें तत्वत: एक ही होना चाहिए और उनका कहना है--

एक जोति दुई मूरती धन पिउ कहीअै सोइ[२]

अर्थात् 'धन' एवं आदर्श 'पिउ' वे ही कहे जा सकते हैं जो एक ही ज्योति के दो मूर्ति स्वरूप हों।

संत परंपरा के अन्य लोगों में से बावरी-पंथ के अनुयायियों की बानियाँ भी इस सम्बंध में अपना महत्व रखती हैं। स्वयं बावरी स्त्री-संत थीं और उनकी उपलब्ध रचनाओं द्वारा जान पड़ता है कि उनकी साधना मधुरोपासना-परक रही होगी। इनकी ऐसी पंक्तियों से पता चलता है कि इनका मन अपने 'प्रभू' की 'साँवरी सूरत मोहनी मूरत' से आकृष्ट होकर उसके चारों ओर 'भाँवरी भरना' वा चक्कर काटता रहा करता है तथा ये उसकी गति देखकर ही बावरी हो गई हैं। इसी प्रकार ये अन्यत्र अपने को उस 'परमतत्त्व की बाँदी' होना भी बतलाती हैं और कहती हैं कि जो साकार है वही इस बात का अनुभव कर सकता है।[३] इनके शिष्य यारी साहब कभी 'विरहिनी' बने दीख पड़ते हैं, कभी अपने 'प्रान पिया' के आगमन में वासकसज्जा नायिका जैसे 'सुखमन सेज' सँवारने में व्यस्त जान पड़ते हैं तो कभी 'पतिवरता' के रूप में उसके साथ 'होरी' खेलते समय उसकी छवि निरखते ही 'भोरी' बन जाते हैं। इनका 'प्यारा' केवल एक 'अलट पिय' मात्र है और वह 'यार' आवागमन एवं जन्म-मरण से सर्वथा रहित है तथा उसी के लिए 'संतसुजान' 'निरगुन चुनरी' ओढ़ा करते हैं।[४]

---

१. आदिग्रंथ रागु गौड, महला ४, पद ६, पृ० ८६१
२. वही, वार सूही की महला ३, सलोक ३, पृ० ७८८
३. महात्माओं की वाणी (भुड़कुड़ा गाजीपुर, १९३३ ई०) पृ० 'क'
४. यारी साहब की रत्नावली, (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१० ई०) पृ० १–२

यारी साहब के शिष्य बूला साहब ने भी अपने विषय में 'हौं अबला' कहा है तथा अपना 'धन राम गोसाईं' को बतलाया है। यह कभी उस 'पिया' की प्रतीक्षा किया करते हैं। कभी उसे 'काली घटा' दिखलाते हैं तो कभी उसके प्रति 'बिन मोल कि बाँदी' हो गए भी दीख पड़ते हैं।[1] बूला साहब के समान गुलाल साहब की रचनाओं में भी हमें वह भावना प्रायः उसी प्रकार काम करती हुई दीख पड़ती है। ये कहते हैं—

लागलि नेह हमारी पिया मोर।
चुनि चुनि कलियाँ सेज बिछावौं, करौं मैं मंगलचार।
एक्रौ घरी पिया नहिं अइलें, होइला मोहि धिरकार॥ इत्यादि

ये 'गगन मंडल में' रास-रचना की बातें करते हैं, 'सुखमन सेज' पर सुरति सँवारने का प्रसंग छेड़ते हैं, उसके साथ रहते हुए 'बुंद' का 'सोहावन' होना अनुभव करते हैं, उसकी 'पुरब प्रीति' को फिर प्राप्त करके उस पिय संग फिर बार-बार 'सनेह' जोड़ते हैं तथा सोलहो सिंगार संपूरन पहन कर उसका रूप निकट से देखते और अपने को धन्य मानते हैं। ये उसके साथ अपना विधिवत् विवाह का होना भी बतलाते हैं और मन पवना की सेज बिछवाकर उस पर उस पाहुन को पौढाते हैं। ये उस प्रभु के दर्शन को अपनी आँखों द्वारा नित्यशः लूटने तथा उसके चरणों में आठों पहर प्रेममग्न रहकर 'बावरी' तक हो जाते हैं। इन्होंने बारहमासे की रचना कर उसके द्वारा भी अपने इन भावों को व्यक्त किया है तथा उसके साथ होली खेलने का रूपक बाँधा है।[2]

गुलाल साहब के प्रिय शिष्य भीखा साहब अपने उस उपास्य देव को 'यार' कहते हुए उससे हँसकर बोलने का आग्रह करते हैं और एक स्थल

---

१. बुल्ला साहब का शब्दसार, (वे० प्रे०, प्रयाग, १९१० ई०) पृ० ९,१०,११ एवं ३१

२. गुलाल साहब की बानी (वे० प्रे०, प्रयाग, १९१० ई०) पृ० २९,३०,३१,३२,३३,३४,३७,३८,४२-३,८२-६ और ९५–१०६

पर जहाँ 'सुखमन सेज' बिछी है और उस पर 'सुंदर' वर आसीन है, वहाँ अपने गुरु गुलाल के साथ मिलन की भी चर्चा करते जान पड़ते हैं। ये अन्यत्र प्रेममग्न होकर

मन अनुरागल हो सखिया . . . जन भीखा पिया आपु भइल, उड़ि गैलि भरम की रखिया

जैसी पंक्तियाँ भी गा उठते हैं और ये अपनी 'नैन सेज' पर पिय को पौढ़ाकर उसके 'अंग अंग पर कोटि कोटि छवि' को देखते हुए 'अघाने' का अनुभव भी करते हैं।[1] परंतु इनसे कहीं अधिक स्पष्ट शब्दों में इनके प्रशिष्य पलटू साहब ने ऐसे भावों की व्यंजना की है और विशेषकर अपनी कुंडलियाँ एवं पदों वाली रचनाओं द्वारा उन्हें उदाहृत किया है। अपने एक सुन्दर कुंडलिया छंद में ये कहते हैं कि 'अपने' पिय की मीठी बोल मेरे तन एवं मन में लग गई और मैं दिवानी हो गई। भँवर गुफा में 'सोंहबानी' उठ रही थी जिसे मैं सुनते ही उसके रूप को भी देखने लग गई और उसमें जा समाई। फिर तो मिलाप हो जाने पर मैंने अपना पुराना परिचित पा लिया और तब से उससे विलग न हो सकी। घूँघट का पर्दा न जाने कब खोल हटाया और जोत में जोत मिल गई।[2] इसी प्रकार इन्होंने अन्यत्र यह भी कहा है कि मैं तो अपने 'पिय' को ढूँढ़ने निकली थी, किन्तु स्वयं खो गई, अब कौन कहाँ संदेश दे सकता है? जिस किसी ने उस प्रियतम का ध्यान किया उसने उसी का 'भेस' धारण कर लिया, आग में जो पड़ा वह आग हो गया, भृंगी ने अपने समान ही कीट को भी बना लिया और नदी वह कर समुद्र में जा मिली तथा शिव से मिलते ही शक्ति अब शक्ति नहीं रह गई। पलटू का कहना तो यह है कि उसके फेर में पड़ना उस 'कहकहा'

---

१. भीखा साहब की शब्दावली (वे० प्रे०, प्रयाग, १९०९ ई०) पृ० २९,३४,७१ और ७८

२. पलटू साहब की बानी, भा० १ (वे० प्रे०, प्रयाग १९२९ ई०) पृ० २७

५

दीवार से झाँकने जैसा है जिससे झाँकने वाला हँसता हुआ दूसरी ओर स्वयं कूद पड़ता है। वे फिर कहते हैं कि 'जब से कंत को पा लिया तब से मगन हो गई हूँ। मन में शांति आ गई है और 'दुचिताई' दूर हो गई है। "अरी माँ, मेरा दिल अब लग चुका है और मुझ से उसे देखे बिना रहा नहीं जाता। मुझे कोई रोग-सा हो गया है और अपने प्राणों को न्योछावर करना पड़ेगा। मैं बेहोश हूँ, लोक-लज्जा भाग चुकी है और सिवाय प्रियतम के मिलन के कोई दूसरी औषध नहीं है"।[१] ये फिर अन्यत्र अपने पदों में भी कहते हैं "उस 'जोगी' ने मुझे प्रेम का बाण मार दिया और मेरा जी कसकने लगा, उस 'जोगी' की आँखें लाल कमलों जैसी थी तथा मेरी चुनरी भी उसी प्रकार लाल थी और ये दोनों एक समान हो गए। मैं अब उस 'जोगी' की मृगछाल और अपने वस्त्र को एक में सी कर 'गूदरी' बना लूँगी और 'फकीर' बन जाऊँगी। उस 'जोगी' ने गगन में शृंगी बजा दी और मेरी ओर देख लिया तथा उसकी उस एक चितवन ने ही मेरा मन हर लिया। फिर तो गंगा और यमुना के बीच हम दोनों का ग्रंथिबंधन भी हो गया और मेरी सारी पीर जाती रही। मेरा वह 'जोगी' अमर है और उसने मेरी आशा पूरी कर दी है जिससे मैं अपना कर्मफल पाकर संतुष्ट हूँ।" पलटू साहब सदा एक अनुपम ढंग की मस्ती में मगन दीख पड़ते हैं और बराबर 'घूंघट का पट खोल दूँगी', 'जोगिन बन कर घूमा करूँगी', 'लोक लाज का सर्वथा परित्याग कर दूँगी", "हँस हँस कर बातें करूँगी", कोई रूठ कर हमारा क्या कर लेगा", "अब तो मैं प्रेम प्याला घोल कर पी जाऊँगी", जैसे वाक्यों के प्रयोग करते तथा अपनी धुन में गाते हुए पाये जाते हैं।[२]

इसी प्रकार संत मलूक दास की रचनाओं में भी हमें उपर्युक्त शैली में व्यक्त किये गए दाम्पत्य भाव के कुछ उदाहरण मिलते हैं। उनके अनुसार जिस किसी का भतार स्वयं राम है उसी को वास्तविक सोहागिन

---

१. पलटू साहब की बानी, भा० १ (बे० प्रे०, प्रयाग, १९१० ई०) पृ० २७-९

२. वही, भा० ३, पृ० २२-३ एवं २४-५

कहा जा सकता है, क्योंकि उसे कभी रँडापा का दुख नहीं होने का। वह न तो कभी उत्पन्न होने वाला पति है, न नष्ट होने वाला ही। मैंने, इसे ही समझ कर उसके साथ 'प्रीति लगाई' है। मैं रात को कभी नींद का अनुभव नहीं करता और मेरा जी बराबर काँपता रहता है कि न जाने वह 'मेरा जालिम पीव' क्या कर दे।[१]

प्रणामी अथवा धामी संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथ के लिए तो प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपनी कई रचनाओं के अन्तर्गत अपने लिए 'इन्द्रावती' वा 'इन्द्रीमती' उपनाम का प्रयोग भी किया है और इसी कारण उन्हें ही कहीं-कहीं 'श्रीजी' वा 'महामति' भी कहा गया है।[२] सत्तनामी सम्प्रदाय के प्रचारक संत जगजीवन साहब की रचनाओं से भी पता चलता है कि ये कांताभाव की उपासना को महत्त्व दिया करते थे। इनकी दैन्यभाव परक मनोवृत्ति इस दशा में भी बराबर बनी रहा करती थी और ये अपने 'साईं' की ओर से सदा भय की ही आशंका में रहते थे। ये अपने को कभी-कभी भूली वा खोई हुई पत्नी के रूप में भी प्रकट करते हैं और अपनी सखियों से भेंट करा देने के लिए विनय करते हैं। इन्होंने आदर्श भक्त के लिए कहा है कि इसे उस पनिहारिन जैसा होना चाहिए जो सिर पर घड़ा लिये हुए मार्ग में चलती है, एक हाथ में डोल और दूसरे में रस्सी लिये रहती है। वह बातें भी करती जाती है, किन्तु 'दारुन' सास एवं ननद के भय से गागर को फूटने से बचा लेती है।[३] इनके प्रसिद्ध शिष्य दूलनदास भी बराबर 'पिया मिलन' के अन्देसे में ही रहते दीख पड़ते हैं और उसके रंग में रँगकर मतवालिन बनना चाहते हैं।[४] संत चरनदास तो दूसरों को भी सदा सोहागिन नारी का भाव बनाये रहने का ही उपदेश देते जान पड़ते

---

१. मलूकदास जी की बानी (वे० प्रे०, प्रयाग) पृ० ३-३५
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भा० ५६, अंक १) पृ० २१
३. जगजीवन साहब की बानी (वे० प्रे०, प्रयाग, १९२२ ई०) पृ० १७, ४७, ८३
४. दूलनदास जी की बानी (वे० प्रे०, प्रयाग, १९१४ ई०) पृ० १८

हैं। ये अपने एक पद में गुरु को उस 'दूती' का पद प्रदान करते हुए भी दीख पड़ते हैं जो प्रेमी एवं प्रेमिका के मध्य बीच-बचाव का काम किया करती है।[1] इनकी दो प्रसिद्ध शिष्याओं में किसी की भी पंक्तियों में हमें मधुरोपासना का वह गम्भीर स्थान लक्षित नहीं होता जिसकी उनकी ओर से स्वभावतः आशा की जा सकती है।

बाबा धरनीदास अपने दाम्पत्यभाव की साधना के प्रति अधिक स्पष्ट अनुराग प्रदर्शित करते जान पड़ते हैं। इनका कहना है कि मेरा मन अब मान गया है और मैंने पतिव्रत का भाव अपना लिया है तथा उसी के अनुसार मैं रहना भी चाहता हूँ। मैंने अपने पति को आज आते हुए सुना है, इसलिए मैंने उसके स्वागत के लिए सभी प्रबन्ध कर लिए हैं। इसी प्रकार ये कभी-कभी उसके अन्यत्र बसते हुए की भावना करके उसके प्रति विरह के भाव भी व्यक्त करते हैं। एक वियोगिनी की भाँति सबसे उसके साथ मिला देने का आग्रह करते हैं तथा अपनी मनोव्यथा का वर्णन ऐसे ढंग से करते हैं जो अत्यन्त सरस और स्वाभाविक-सा भी लगता है। ये अपने को उसकी 'बिनुही मोल बिकानी' दासी भी ठहराते हैं तथा उसके लिए अपना सर्वस्व त्याग देते हैं। ये उसे 'बड़ सुन्दर' कहकर उसके प्रति 'सहज स्नेह' का उत्पन्न हो जाना बतलाते हैं और उसके साथ जाने की तैयारी करती हुई दुलहिन से भी दीखते हैं। इनकी रचनाओं में से 'बारह-मासा' तथा कतिपय साखियाँ भी इस दृष्टि से बहुत उपयुक्त हैं।[2] संत शिवनारायण की उपलब्ध रचनाओं से पता चलता है कि उन्होंने एक ऐसे 'संतदेश' की सुन्दर कल्पना की थी, जहाँ पर परमात्मा सब संतों के साथ निवास करता है। वहाँ पर ये सभी उसके चारों ओर सखी-भाव के साथ उपस्थित एवं आनन्द में मग्न रहा करते हैं। उस प्रदेश का चित्रण

---

१. चरनदास जी की बानी (वे० प्रे०, प्रयाग, १९०८ ई०) पृ० ४९; भा० २ पृ०, १

२. धरनीदास जी की बानी (वे० प्रे०, प्रयाग, १९११ ई०) पृ० १२, २४, २७,४८-५१ और ५४

भी एक ऐसी शैली में किया गया जान पड़ता है जिसमें नित्य वृन्दावन का वर्णन किया गया पाया जाता है। परन्तु यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि संतों की विचारधारा के संदर्भ में इस प्रकार की भावनाओं को प्रायः रूपक वा प्रतीक पर आधारित मान लेने की भी परंपरा दीख पड़ती है। हमें इस प्रसंग में यह भी स्मरण से आता है कि कतिपय विद्वानों के अनुसार स्वयं श्रीकृष्ण, राधा, गोपियाँ एवं वृन्दावन तथा वहाँ पर घटित सारी लीलाएँ वस्तुतः नभोमंडल स्थित सूर्य एवं विशाखा (राधा) आदि नक्षत्रों के नित्य क्रियाशील बने रहने को ही सूचित करते हैं। 'गो' का अर्थ यदि किरण किया जाय तो गोप श्रीकृष्ण (सूर्य) बन जाते हैं और इसी प्रकार गोपियाँ (तारिकाएँ) बन जाती हैं। उनके नामों में से कई का ज्योतिष के अनुसार आधारित होने से भी यही सिद्ध होता जान पड़ता है। इनकी नित्य रासलीला उससे अभिन्न है[१] जो संतों की भावना के कदाचित् अधिक निकट भी कहला सकता है।

दरिया साहब (मारवाड़ वाले) अपने को ब्रह्मभाव पुरुष के समक्ष 'आतम कन्या' बतलाते हैं और कहते हैं कि उस गुरु ने कृपा करके मेरा विवाह उसके साथ कर दिया है। मैंने यह निश्चित रूप से समझ लिया है कि मुझे 'पूरा पति' मिला है। ये उसके साथ अपनी सगाई से लेकर उसके साथ सोने तक की चर्चा करते हैं।[२] इसी प्रकार दरिया साहब (बिहार वाले) ने अपने को 'कुलवंती' एवं 'खसम पियारी' बतलाया है और ये उसे फूलों की सेज पर पौढ़ा कर उसकी चरण सेवा में अनुरक्त रहते हैं। ये कभी-कभी उसके वियोग में पीड़ित होकर अपनी दशा का वर्णन

---

१. योगेशचंद्र राय : पौराणिक उपाख्यान, (कलिकाता, बं० १३६१) पृ० ४९-५०

२. दरिया साहब (मारवाड़) की बानी, (वे० प्रे०, प्रयाग, १९२२ ई०) पृ० ५७-५८,६० और ३८ जहाँ पर उन्होंने यह भी कहा है—"सोई कंथ कबीर का दादू का महराज।
सब संतन का बालमा, दरिया का सिरताज"।

करते हैं तो कभी उसके साथ 'होरी' भी खेलते दीख पड़ते हैं।[1] कबीर पंथ के सुप्रसिद्ध प्रचारक संत धरमदास तो स्वयं कबीर को भी अपना 'प्रिय' बतलाते हैं, क्योंकि, वास्तव में कबीर साहब ही उनकी दृष्टि में 'मुक्ति के दाता', 'हंसन के राजा' अथवा 'हंस पति राई' भी हैं और उन्हीं को पा लेने पर इनका आवागमन मिट गया है। उस संत गुरु ने ही 'वाहि-देस' की बातें बतलायी हैं जिस कारण उन्हीं साहेब 'कबीर वंदी छोर' को ये अपनी ओर कृपा-दृष्टि फेरने के लिए कहते हैं। परन्तु कहीं-कहीं पर ये कदाचित्, परमात्मा को अपना 'पिया' कहा करते हैं और बतलाते हैं कि उसे ढूँढ़ने के लिए मैं 'बावरी' बनकर निकल पड़ी थी जिसका हाल उसके यहाँ 'हमेस' आते-जाते रहने के कारण 'कबीर गुरु' जानते हैं। ये कदाचित् उसी को उद्दिष्ट करके यह भी आग्रह करते हैं कि "हे प्रियतम, एक बार फिर अपनी वंशी को 'गगन' में बजाओ।" इसीलिए इनके द्वारा प्रयुक्त 'साहेब' शब्द कहीं-कहीं पर परमात्मा के लिए तो अन्यत्र उनके कबीर गुरु के लिए आया हुआ दीख पड़ता है। इनके ऐसे कई गीत अत्यन्त सरस और सुन्दर हैं।[2] बावरी पंथ के अनुयायी केशवदास के एक पद से ऐसा प्रतीत होता है कि वे संत को भी 'निरमल कंत' का पद प्रदान कर रहे हैं। यद्यपि उसी रचना द्वारा वे उस सत्यपुरुष को ही अपना कंत ठहराते हैं जो 'तेज पुंज' और 'उजियारा निर्गुण' भी है। उनकी तो लगाई 'हरिजू सूं' ही जड़ी हुई है और उसी के रूप का प्रत्यक्ष करके वे लुभा गए हैं।[3]

संत तुलसी साहब की उपलब्ध रचनाओं के अन्तर्गत भी हमें दाम्पत्य-भाव विषयक वर्णन-शैली के बहुत-से प्रयोग मिलते हैं। इन्होंने अपनी

---

१. दरिया साहेब (बिहार वाले) के चुने हुए पद एवं साखी (वे० प्रे०, प्रयाग, १९३१) पृ० ७,३२ एवं २७-३१

२. धनी धरमदास जी की शब्दावली (वे० प्रे०, प्रयाग, १९२३ ई०) पृ० ३,५,७,११,१२,१४,१६,१८,२३ एवं ३२

३. केशवदास जी की अमीघूंट (वे० प्रे०, प्रयाग) पृ० ५,७-८

अनेक पंक्तियों के आदि में ही या तो 'साहिबै' अथवा 'अलि' शब्दों को स्थान दिया है, अपने 'पिय' के साथ 'अजर अमर वासा' प्राप्त कर लेने की चर्चा की है तथा उसके एवं अपने आपके एक होने की ओर उसी ढंग से संकेत भी किया है। इन्होंने विरहिणी नायिकाओं जैसे शब्दों द्वारा अपनी विरह-व्यथा का निवेदन किया है तथा अपने 'पति' परमात्मा के साथ "नित नित सैल केलि" करने का भी पता दिया है। इन्होंने न केवल इस प्रकार की साधना के सम्बंध में साधारण रूप में ही कह दिया है, अपितु ये स्वयं अपने निजी अनुभव का भी स्पष्ट वर्णन करते हैं। इनका कहना है—

अली जो समरथ के साथ सरन में आई।
सो सूरत परम विलास करैं घट माहीं ॥
पिउ प्यारी महल मिलाप रहें दिन राती।
तुलसी घट भीतर केल करै पिय साथी ॥[1]

तथा—तुलसी निरखि नैन दिनराती, पल पल पहरो आठ,
यहि विधि सैल करै निस बासर, रोज तीन सै साठ ॥[2]

इस प्रकार इनके ऐसे कई वर्णन सर्वथा शृंगारिक से हो गए हैं। ये घट के भीतर आमोद-प्रमोद के अनुकूल वातावरण का पता देते हैं[3] तथा कभी-कभी 'संइयाँ के चौपड़' खेल का भी वर्णन करते हैं।[4]

राधास्वामी संप्रदाय के संतों की रचनाओं में भी हमें इसी प्रकार किये गए 'अलि' एवं 'सखि' जैसे शब्दों के प्रयोग बड़ी संख्या में मिलते हैं।

---

१. तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग १ (वे० प्रे०, प्रयाग, १९२८ ई०) पृ० ६०
२. तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग १ (वे० प्रे०, प्रयाग, १९२८ ई०) पृ० ११५
३. वही, भा० २, पृ० १८७
४. वही, पृ० २४८

इसके प्रथम गुरु स्वामी जी महाराज का कहना है "मैं प्यारे राधास्वामी की प्यारी हूँ और उनके गुणों का गान करती हूँ। उन्हें अपने नेत्रों से निहारती हूँ, उनके वचन सुना करती हूँ"[१] आदि तथा "मैं अगम की दासी हो गई हूँ और मेरी सूरत अविनाशी बन गई है"।[२] ये फिर कहते हैं कि "मैं नित बसंत खेला करती हूँ तथा सुरत को निरत करके कंत से जा मिली हूँ"।[३] इसी प्रकार इनके शिष्य हुजूर जी महाराज भी सर्वत्र प्रायः इन्हीं की वर्णन-शैली का प्रयोग करते हैं और उन्होंने भी इन्हीं की भाँति अपनी साधना का परिचय दिया है। उनका एक स्थल पर कहना है, "हे सखी, मैं अपने प्यारे की प्यारी बन गई। मैं सदा उसकी सेवा में ही रहा करती हूँ और प्रसन्न हो होकर नित्य उसका रूप निहारा करती हूँ"।[४] इन्होंने न केवल परमात्मा को ही, अपितु अपने 'गुरु' को भी 'प्यारा' कहा है जिसका कारण यह हो सकता है कि उन दोनों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। वे कहते हैं, "गुरु प्यारे के साथ घर की ओर चलो, इस नगरी में सुख और चैन नहीं। इसलिए सभी बंधनों को तोड़कर उधर ही भाग चलो।"[८] इन संतों ने अधिकतर 'सुरति' को भी किसी नारी का रूप देकर उसे प्रेमिका की भाँति व्यवहार करने वाली बतलाया है।

हिन्दी के सगुणोपासक भक्त कवियों की रचनाओं में भी हमें मधुर-भाव की व्यंजना की गई दीख पड़ती है, किन्तु वह ठीक संतों जैसी नहीं है। अपने इष्टदेव के प्रति किसी न किसी प्रकार की साकारता अथवा प्रायः अवतारग्रहण की भावना के भी मिश्रित रहा करने के कारण इन कवियों को स्वभावतः उसके लीलागान की ओर भी उन्मुख हो जाना पड़ता

---

१. सार वचन राधास्वामी (राधास्वामी ट्रस्ट) भा० १, पृ० २९
२. वही, दूसरा भाग, पृ० ३२९।
३. वही, पृ० ४०६।
४. प्रेमबानी, तीसरा भाग (राधास्वामी सतसंग, आगरा, १९४९ ई०) पृ० २०५
५. वही, पृ० २८

है । वह मानव शरीर धारण करने के कारण, किसी अपनी पत्नी के साथ रहा करता है और उसका शरीर आदर्श प्रेम और सौन्दर्य का अलौकिक आधार भी बन जाया करता है । फलतः उसके आदर्श मानवीय गुणों की प्रशंसा करने वाले भक्तों को, उन्हें मानवीय स्तर पर लाकर घटाते समय, एक विचित्र समस्या का सामना करना पड़ जाता है जो उनका मानसिक संतुलन अनस्थिर कर दिया करता है । वे या तो उसके प्रति ईश्वरत्व की मनोवृत्ति बनाये रखने के यत्न में उस पर विविध चमत्कारों का आरोप कर देते हैं अथवा यथार्थ चित्रण के फेर में पड़कर उसे नीचे खींच लाते हैं । उदाहरण के लिए यदि श्रीकृष्ण को हम परात्पर ब्रह्म की कोटि में ही रखना चाहें तो हमें इसके लिए अलौकिक चमत्कारों की सहायता लेनी पड़ सकती है जो केवल अंधविश्वास की दृष्टि से ही बोधगम्य एवं क्षम्य हो सकता है । इसी प्रकार यदि कहीं विशुद्ध यथार्थवाद के दृष्टिकोण को अपनाना चाहें तो हमारे लिए उन्हें नितान्त प्राकृत मानव के स्तर तक भी लाकर चित्रित करना पड़ सकता है जो किसी भक्त वा उपासक की श्रद्धा-परक भावना के सर्वथा प्रतिकूल भी जा सकता है । यह धर्म-संकट कभी साधारण रूप नहीं ग्रहण करता, जिस कारण इसे दूर करने में केवल विरले भक्त कवि ही पूर्ण समर्थ हो पाते हैं । यहाँ पर यह भी एक उल्लेखनीय बात है कि उपर्युक्त समस्या जितनी दाम्पत्यभाव के चित्रण में निकट जाती है, उतनी दास्य, सख्य वा वात्सल्य भावों तक में नहीं देखी जाती ।

सगुणवादी भक्त कवियों की मधुरोपासना

हिन्दी के सगुणोपासक भक्त कवियों में से बहुत कम ऐसे मिलेंगे जिन्होंने निर्गुणवादी संत कवियों की भाँति अपने उपास्यदेव के साथ प्रत्यक्ष दाम्पत्य-भाव की साधना को अपनाते हुए अपने उद्‌गार प्रकट किये हैं । इन उपासकों ने, चाहे ये श्रीकृष्ण के भक्त हों चाहे श्रीराम के ही हों अधिकतर यही यत्न किया है कि अपने इष्टदेव की लीलाओं में पायी जाने वाली ऐसी घटनाओं का ही विशद् से विशद् वर्णन कर अपनी तदनुकूल हृदय-

गत भावनाओं को न्यूनाधिक प्रतिफलित कर लेवें । श्रीकृष्ण की लीलाओं में से वे उनकी तथा श्रीराधा की प्रेमाशक्ति-सम्बंधी घटनाओं को विशेष रूप से चुनते हैं अथवा उनका सम्बंध व्रज-वधूटियों के भी साथ स्थापित करके उन्हें अधिक से अधिक भावपूर्ण चित्ताकर्षक बनाने की चेष्टा किया करते हैं । इसके सिवाय इन गोपियों तथा वस्तुतः राधा के भी श्रीकृष्ण के साथ किसी वैवाहिक सम्बंध में जुड़े न रहने के कारण उन्हें ये स्वकीया की जगह प्रायः परकीया का ही स्थान दे दिया करते हैं, जिस कारण इनका चित्रण सदा उनका संयत नहीं रह पाता । श्रीराम के मधुरोपासक भक्त कवियों ने अपने को इस प्रकार के दोषों से मुक्त रखने का यत्न किया है । परन्तु श्रीकृष्णोपासकों के अनुकरण में इन्होंने भी कभी-कभी अनेक 'सखियों' वा 'मंजरियों' की सृष्टि कर उनके कारण अपने मर्यादा प्रेम में कमी ला दी है । सगुणोपासक भक्त कवियों में से कुछ लोगों ने अपने उपास्य देवों के प्रति सीधा प्रेम-सम्बंध भी स्थापित किया है, किन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है । हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में हम इस प्रकार की प्रवृत्ति विशेषकर उन्हीं सगुण भक्त कवियों में पाते हैं जिनकी सगुण उपास्य विषयक भावनाओं में उतना स्पष्ट अन्तर लक्षित नहीं होता और जो, इसी कारण, अपने इष्टदेव के प्रति अभेदभाव परक उद्गार भी प्रकट कर पाते हैं । इनकी भी भावधारा का रूप लगभग वैसा ही बन जाता है जैसा मराठी के ज्ञानेश्वर अथवा तुकाराम तथा गुजराती के नरसी मेहता के भी सम्बंध में लक्षित होता है तथा जो उतना एकान्तनिष्ठ और अनिश्चित नहीं रह पाता, जितना हिन्दी के निर्गुणी संतों के यहाँ देख आये हैं।

हिन्दी के सगुणवादी मधुरोपासक भक्त कवियों में भी मीराँबाई का स्थान सबसे ऊँचा है। मीराँबाई की अपने 'गिरधर नागर' श्रीकृष्ण के प्रति प्रेमनिष्ठा अत्यन्त प्रगाढ़ एवं गम्भीर है । वह उनके स्त्री भी होने के कारण, स्वभावतः उस कोटि तक पहुँच जाती है जो उच्चतम प्रेमादर्श की हो सकती है । मीराँबाई का व्यक्तिगत जीवन भी ऐसा था जिससे उनका

अनुराग क्रमशः प्रवणतर ही होता चला गया। उनका प्रेमी हृदय इतना तपाया गया कि वह अंत में निखर कर केवल एक रंग का ही हो गया तथा उसके लिए किसी अन्य रंग का लगाना असम्भव तक बन गया। मीराँ-बाई के लिए कहा गया है कि उनकी रचनाओं में हमें विशुद्ध गोपीभाव के उदाहरण मिलते हैं और वही उनका आदर्श भी था। परंतु जब हम उनकी उपलब्ध ऐतिहासिक जीवनी पर दृष्टि डालते हैं तथा उन पर पड़ी हुई विविध विपदाओं पर भी विचार करने लग जाते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि उनका कांताभाव केवल 'गोपीभाव' तक ही सीमित न रहकर 'राधाभाव' तक भी ऊँचा जा सकता है। ये अपने 'गिरधर नागर' को सदा 'पिया', 'पिव', 'उण', 'धणी', 'सैंयाँ', 'भरतार', 'भवन पति', 'साजन', अथवा 'वर' तक द्वारा भी सम्बोधित करती दीख पड़ती हैं तथा अपनी कई पंक्तियों में उनके साथ अपनी 'प्रीति पुराणी'' का भी उल्लेख कर देती हैं। वे अपनी दृष्टि में कदाचित्, सर्वथा स्वकीया ही हैं जिसका वास्तविक रहस्य न समझ पाने वाले उनकी सचाई में सन्देह करने लगते हैं। फलतः 'प्रेम दिवाणी' मीराँबाई की 'हाँसी' तक उड़ायी जाने लगती है और उसे विविध यंत्रणाएँ भी भोगनी पड़ती हैं। परंतु इन्हें इस प्रकार की बदनामी भी सदा 'मीठी' ही लगा करती है और ये अपनी अनूठी चाल में दृढ़ रहकर 'मस्त डोलती' रह जाती हैं। अतएव, मीराँबाई को कतिपय अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की भाँति अपने इष्टदेव की प्रेम-लीलाओं का वर्णन करना मात्र नहीं है, न अधिक से अधिक उनमें से कुछ पुरुष कवियों जैसा अपने ऊपर स्त्रीभाव का काल्पनिक आरोप कर तद्वत् प्रदर्शन करना ही है। ये माधुर्यभाव की सभी स्त्रीसुलभ बातें यों ही स्वभावतः अनुभव कर लेतीं तथा उन्हें तदुपयुक्त शब्दावली द्वारा व्यक्त कर देती हैं। वे अपने प्रियतम गिरधर नागर के प्रति सभी प्रकार के प्रेम-व्यवहार प्रदर्शित करने की चेष्टा करती हैं और उसके विरह में तड़पा करती हैं। किन्तु इनके द्वारा चित्रित संयोगावस्था की दशा में भी हमें इनकी वैसी अभिव्यक्ति नहीं दीख पड़ती जो किसी प्रकार अमर्यादित कही जा सके।

उपसंहार

अतएव, जहाँ तक विविध भाषाओं के साहित्य में उपलब्ध भक्तों की रचनाओं का प्रश्न है, वहाँ पर हमें प्रायः सर्वत्र यही दीख पड़ता है कि मधुरोपासना की प्रवृत्ति को उन्होंने बराबर महत्व दिया है तथा ऐसा करते समय उन्होंने किसी प्रकार के संकोच का अनुभव भी नहीं किया है। भक्ति सदा अपने से अधिक महान् और विशेष कर स्वयं भगवान वा परमात्मा के प्रति प्रदर्शित की जाती है। उसके साथ किसी प्रकार के यौन-सम्बंध का आरोप करके उसे तदनुकूल प्रभाव के बन्धन में डालने की चेष्टा करना यों वहुत कुछ अनुचित भी लग सकता है। किन्तु मधुरोपासक भक्तों ने इसकी कभी कोई परवाह नहीं की है, प्रत्युत जहाँ तक संभव हो सका है ऐसी प्रवृत्ति को अधिकाधिक दृढ़तर एवं कामवासना-परक भावों को तीव्रतर ही बनाते चलने पर वे सदा तुले रहते आये हैं। इन भक्तों को अपने पुरुष रूप में होने पर भी इस बात में अनौचित्य का अनुभव नहीं हो सका कि चाहे किसी उद्देश्य से ही क्यों न हो किसी स्त्री की भाँति आचरण करना हमारे लिए कभी ठीक नहीं हो सकता, न यही कि इसके कारण, हमारे प्रति अपने समाज में कैसी धारणा बनायी जा सकती है। वास्तव में, इस प्रकार धर्म एवं काम की प्रवृत्ति का एक ही स्तर पर लाकर तदनुसार करना वहुत पहले से तथा प्रायः सर्वत्र प्रचलित रहता आया है और जैसा कि हम प्राचीन वैदिक साहित्य तक में पाते हैं 'काम' को कलुषित वासनाओं के साथ जोड़ कर उसे हेय ठहराने के उदाहरण पहले उतने अधिक नहीं मिला करते जितने पिछले साहित्यों में उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के एक स्थल पर काम को महत्व दिलाते समय कहा गया है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो वंधु मसति निरविंदन् हृदा प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

एक उपनिषद् में 'काम एवायं पुरुषः' भी कहा गया मिलता है।

इस काम को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के चतुर्वर्गीय पुरुषार्थ में भी महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया जाता आया है। 'पद्मपुराण' में तो एक स्थान पर ऐसा भी कहा गया मिलता है--

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः, कामाद्धर्म फलोदयः ।
इत्येवं निर्णयं शास्त्रे प्रवदंति, विपाश्चितः ॥

अर्थात् धर्म से अर्थ, अर्थ से काम तथा काम के द्वारा धर्म के फल का अथवा सुख का उदय हुआ करता है, ऐसा निर्णय विद्वानों ने किया है जिससे धर्म एवं काम का वस्तुतः अविरोधी होना भलीभाँति सिद्ध है।

काम की ही एक प्रवृत्ति प्रेम के रूप में प्रकट होती है जिसकी परा-काष्ठा हमें स्त्री एवं पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण तथा तदनुकूल आत्मी-यता जनित पारस्परिक आसक्ति एवं व्यवहार की चरम परिणति में दीख पड़ती है। ऐसी स्थिति में दोनों ही परम सुख का अनुभव करते हैं ऐसी ही दशा में किये गए दोनों के पारस्परिक गाढ़ालिंगन के 'कामानन्द' को 'ब्रह्मानन्द' तक का समकक्ष समझा गया है। प्रेम काम का वह रूप है जिसमें किसी प्रकार की कलुषित मनोवृत्ति को स्थान नहीं मिला करता और जो, इसी कारण, अहैतुक और निर्व्याज भी कहा जा सकता है। वह उसका अत्यन्त सहज और स्वाभाविक पक्ष है जो किसी भी वासना द्वारा कभी विकृत नहीं बना करता। काम को प्रेम से अधिक व्यापक, प्रत्युत उसका वह अपक्व अथवा असंस्कृत रूप भी ठहरा सकते हैं जिसमें अनेक संकुचित एवं विजातीय प्रवृत्तियों के भी जागृत हो जाने की गुंजाइश रहा करती है। जो उन्हीं के कारण अंत में कभी सुख की जगह केवल दुख का उत्पादक भी बन जा सकता है। काम एवं प्रेम तत्वतः एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। प्रेम काम का वह सार तत्व है जो चिरस्थायी है। यह उसके इतर वाह्य एवं महत्वहीन अंगों की भाँति क्षणिक नहीं कहला सकता। अतएव काम को यदि हम सोने का कोरा असिद्ध या crude रूप कहें तो प्रेम को हम उसका निखरा और तपाया हुआ सुसंस्कृत कुंदन रूप भी कह सकते हैं। इस

प्रकार के काम एवं धर्म के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं। इसीलिए श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमद्भगवतगीता में भी कहलाया गया है—

धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।[1]

अर्थात् हे भरत कुल में श्रेष्ठ अर्जुन प्राणियों में धर्म के विरुद्ध न जाने वाला 'काम' भी मैं ही हूँ। इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि विशुद्ध काम अथवा प्रेम एवं परमात्मा के बीच कोई अन्तर नहीं है।[2] किसी धार्मिक वा आध्यात्मिक साधना के संदर्भ में जहाँ एक साधक अपने किसी शाश्वत और अविनश्वर भगवद्रूप सत्ता को अपना इष्टदेव मानकर उसके साथ अपना नित्य सम्बंध जोड़ने का यत्न करता हो, वहाँ हम प्रेमभाव के उस उज्ज्वल एवं विशुद्ध रूप की ही कल्पना कर सकते हैं।

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' के अन्तर्गत काम का परिचय देते हुए बतलाया है—"काम उस प्रवृत्ति को कहते हैं जो आत्मा से संयुक्त एवं मन से अधिष्ठित काम, त्वचा, आँख, जिह्वा और नाक के अपनी इच्छा के अनुकूल अपने-अपने विषयों में संलग्न रहने में दीख पड़ती हैं।[3] जिस समय काम मन के भीतर तरंगित होता है कानों को मधुर स्वरों की लालसा होती है, जिह्वा को स्वादिष्ट भोजन की कामना हो जाती है, आँखें सुन्दर रूप के लिए लालायित हो उठती हैं और त्वचा सुकोमल

---

१. श्रीमद्भगवतगीता (अध्याय ७, श्लोक ११)

२. गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय की उपासना में श्रीकृष्ण को कामबीज एवं राधा को रतिबीज भी कहा गया मिलता है तथा उसके अनुयायियों के यहाँ 'कामगायत्री' का यह मंत्र भी प्रसिद्ध है—
जैसे—"क्लीं कामदेवाय विद्महे (पुष्पवाणाय धीमहि तन्नोऽनंगः) प्रचोदयात्"—श्रीराधानाथ कावासी द्वारा संकलित श्री श्री वृहदभक्ति सार (कलिकाता, ४४९ श्री चैतन्यानद) पृ० १३२३-५ ।

३. कामसूत्र (द्वितीय पराग, सूत्र ११)

स्पर्श विषयक सुख के लिए बेचैन हो जाती है। ऐसा होना इनका सहज-धर्म है और यह साधारण बात है। जिस समय उपर्युक्त शब्द, रस, रूप, गंध एवं स्पर्श के रूपों में उपलब्ध बाहरी विषयों का राग मन के भीतर उत्पन्न हो जाता है और ये तदनुसार हमारे चिन्तन का लक्ष्य बनकर उस मन में प्रविष्ट हो जाते हैं, उस समय हमारी कामना अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर लेती है। उस दशा में हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ विषयासक्त बन जाती हैं और आत्मा को भी उनके द्वारा आकृष्ट होकर उस ओर प्रवृत्त हो जाना पड़ता है। आत्मा की यह प्रवृत्ति ही जो वस्तुतः विषयभोग के प्रति हुआ करती है, काम को सूचित करती है। इस प्रकार उसे जिस सुख का अनुभव हुआ करता है वह 'काम' कहलाता है। यह काम का सामान्य रूप है जिसमें उसके कारण किसी व्यक्ति को अपनी कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने 'आनन्दकार्य' में निरत भी नहीं करना पड़ता। काम का विशेष रूप वह है जिसमें पुरुष अथवा स्त्री इस प्रकार के आनन्दातिरेक का अनुभव करने की इच्छा से एक दूसरे के सम्पर्क में आने की कामना करते हैं। वैसी दशा में उनके परस्पर व्यवहार में उक्त आनन्द के कतिपय गौण रूपों की प्रतीति तक होने लग जाती है।[1] फिर काम का विशिष्ट एवं अंतिम रूप वह हुआ करता है जिसमें पुरुष एवं स्त्री एक दूसरे का गाढ़ालिंगन करने के अतिरिक्त परस्पर मैथुन-कर्म तक में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार काम के विभिन्न स्तर हैं जिनके अनुसार एक व्यक्ति की मनोवृत्ति सर्व-प्रथम न्यूनाधिक अनासक्त-सी रहकर क्रमशः अधिकाधिक विषयासक्त बनती चली जाती है। इसका एक परिणाम यह भी हुआ करता है कि उसका स्थूलतर कार्यों में प्रवृत्त होता जाना उसे क्रमशः बंधन में डालता चला जाता है। फलतः ऐसी दशा में उसका धर्माचरण के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करना तक स्वाभाविक हो जाता है, इधर आने की उसकी प्रवृत्ति नहीं हो पाती।

काम की प्रवृत्ति, इस प्रकार, अधिक से अधिक आनन्द उपलब्ध करने

---

१. **'काम सूत्र' (द्वितीय पराग, सूत्र १२)**

की प्रबल कामना का ही एक अन्यतम रूप है। यदि यह यथेष्ट उचित रूप में तथा भलीभाँति सजग एवं संयत रहकर काम कर सके तो इसके कारण कभी किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं की जा सकती। इसके सिवाय, जैसा हम इसके प्रेम वाले पक्ष का परिचय देते समय कह आये हैं, इसके द्वारा हमारे लिए विशुद्ध सात्विक आनन्द की उपलब्धि भी असंभव नहीं रह जाती, प्रत्युत इसके माध्यम से वह सुगम एवं सुलभ तक बन जाया करता है। अतएव, भक्त लोग अपने इष्टदेव के प्रति भक्ति की साधना करते समय स्वभावतः उक्त प्रेमभाव को ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं तथा उसके सहारे अभ्यास करते समय भक्ति के उस रूप को भी विशेष महत्व देने लग जाते हैं जो मधुरभाव के साथ संपृक्त रहा करता है और तदनुसार जो 'मधुरोपासना' भी कहलाता है।

प्रेमतत्व का यह सहज स्वभाव है कि वह किन्हीं दो को एक भाव में लाने अथवा उनमें अभेद भाव जागृत करने की प्रबल प्रेरणा देता है। भक्त अपने इष्टदेव को प्राप्त करना चाहता है और उसके साथ अपनी आत्मीयता का भाव सुदृढ़ करके उसके सम्पर्क में बना रहना भी चाहता है। यदि उसका इष्टदेव साकार बनकर उसके समक्ष आ सकता है तो वह उसके सान्निध्य के सुख का अनुभव करना चाहेगा, किन्तु यदि वह उसे निराकार समझता है तथा उसे तत्त्वतः अपने से अभिन्न भी समझा करता है तो उसके साथ पूर्ण समरसता का आनन्द लेना चाहेगा। इस दूसरी दशा में उसे किसी प्रकार के स्थूल माध्यम की आवश्यकता नहीं और वह, इसी कारण, अधिकतर अपने मनोबल के भरोसे पर ही काम कर सकता है। इस प्रकार, वह अपनी प्रेमजनित आसक्ति को अधिक से अधिक तीव्र करता हुआ, अन्त में, अपने उद्देश्य में सफल हो जा सकता है। परंतु उक्त प्रथम दशा वाले साधक वा भक्त के लिए अपने इष्टदेव के साथ पूर्ण अभेद भाव का स्थापित कर पाना संभव नहीं है। इसके मार्ग में अपने इष्टदेव की साकारता बाधा पहुँचा सकती है और वह अधिक से अधिक इसे उसके निकटतम सम्पर्क में ही आने दे सकती है। निर्गुण निरा-

कार का साधक अपने इष्टदेव को चाहे पिता, माता, स्वामी, सखा अथवा पति कुछ भी कह डाले वह इस बात को भलीभाँति जानता है कि उसका ऐसा करना केवल कथन सौकर्य के ही कारण है, क्योंकि उसकी उपास्य सत्ता तत्वतः भावरूप में ही उपलभ्य हो सकती है। परन्तु सगुण एवं साकार के उपासक भक्त के लिए इस प्रकार सोचना तक भी कठिन है। यह उसे सदा अखिल ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य का रूप देकर ही देखेगा। उसे इसके लिए कोई ऐसा अवतारधारी शरीर भी प्रदान कर देगा जो सब कुछ कहलाते हुए भी उसके लिए वस्तुतः मानव शरीर से भिन्न नहीं हो सकता। ऐसी दशा में इस भक्त का उसके लिए माता, पिता, स्वामी, सखा अथवा पति कहने लगना केवल औपचारिक-सा ही नहीं लगा करता। यह भक्त अपने इष्टदेव को प्रत्यक्ष और अपने अभीष्ट रूप में अनुभव करना चाहता है और उसके साथ अपना सम्बंध यथार्थ रूप में जोड़ना चाहता है।

अतएव, हम कह सकते हैं कि निर्गुण एवं निराकार सत्ता के साथ अभेदभाव परक भक्ति की साधना करने वालों के लिए मधुरोपासना कहीं अधिक उपयुक्त ठहरती है, क्योंकि यहाँ पर परमतत्व को पुरुष एवं प्रकृति दोनों के केवल एक मात्र अद्वैत रूप में स्वीकार कर लेने की गुंजाइश बनी रहती है। इस प्रकार, यदि ऐसे साधक का उद्देश्य उसके साथ "जल में जल की भाँति" मिलने का रहा करता है तो इस प्रकार की साधना उसके लिए अधिक स्वाभाविक भी है। परन्तु सगुण एवं साकार इष्टदेव के प्रति भक्ति-साधना करने वाले के लिए साधारणतः वैसा कोई उद्देश्य भी नहीं रहा करता। इसलिए, यदि वह मधुरोपासना को विशेष महत्व देना चाहता है तो वह केवल यही अभिलाषा रखता है कि मैं अपने इष्टदेव का अधिक से अधिक 'अपना' हो जाऊँ। उसे निर्गुणवादी संतों की भाँति उसके साथ स्वयं 'आप' हो जाने की अभिलाषा करना, कदाचित्, निरी धृष्टता वा दुस्साहस का काम होगा। फलतः यदि वह राम हैं तो ये अधिक से अधिक उसकी सीता के पद तक पहुँचना चाहेंगे, यदि वह श्रीकृष्ण हैं तो ये उसकी राधा बन कर उसके साथ साथ बना रहना चाहेंगे और यदि वह शिव

हैं तो उसमें शक्ति की भाँति सदा लीन रहने का मनोरथ पूरा करेंगे। उनमें न्यूनाधिक भेद की भावना सदा बनी रहेगी। लक्ष्मी विष्णु की चरण सेविका दासी के रूप में प्रदर्शित की जाती हैं, सीता श्रीराम के साथ नित्य आसीन रहा करतीं अथवा 'साकेत' की नित्य लीला में उनका साथ दिया करती हैं। इसी प्रकार, श्रीकृष्ण की रुक्मिणी उनकी सहधर्मिणी बनी रहती और उनकी राधा 'गोलोक' में नित्य विहार किया करती हैं। पार्वती को भी श्रीशिव की 'अर्द्धांगिनी' का ही पद प्रदान किया जाता है और केवल शक्ति के रूप में ही, उन्हें उनमें लीन तक हो जाने का महत्व दिया जाता है। योग-साधना द्वारा कुंडलिनी को जागृत कर उसे क्रमश: षट्-चक्रों से ले जाकर सहस्रार तक पहुँचा देना और, अन्त में, उसे वहीं लीन कर देना शक्ति एवं शिव के परस्पर मिलन का प्रतीक रूप समझा जाता है। कहते हैं कि इसी साधना के माध्यम से जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन का भी अनुभव किया जा सकता है। निर्गुणवादी संतों ने अपनी बानियों के अन्तर्गत इस शिव एवं शक्ति के परस्पर एकीभूत हो जाने की भी चर्चा की है।

इसके विपरीत सगुणवादी भक्तों में से उन लोगों ने भी जिन्होंने अपने इष्टदेव के साथ स्वयं पत्नी की भाँति मिल जाने का वर्णन किया है, उपयुक्त शिव एवं शक्ति जैसा एकरूप बन जाने का आदर्श अपने सामने नहीं रखा है। उन्होंने अधिक से अधिक इतना ही यत्न किया है कि हमें उसके साथ सहवासिनी, सहधर्मिणी, नित्यविहारिणी, लीलाविधायिनी अथवा अर्धांगिनी तक का पद प्राप्त हो जाय। केवल मीराँबाई जैसी ही एकाध साधिकाएँ मिल सकती हैं जिनकी पंक्तियों में हमें कभी-कभी "जोत में जोत" मिला देने का स्वर भी सुनायी पड़ता है। उनकी यह वर्णन-शैली, कदाचित्, उस परंपरा का अनुसरण करती है जो निर्गुण एवं सगुण के बीच प्रत्यक्ष भेद न रखकर अपना हृदयोद्गार प्रकट करने वाले ज्ञानेश्वर जैसे दक्षिणी संतों की कही जा सकती है। ऐसे संत-भक्तों का विचारगत आदर्श बराबर अद्वैतपरक रहता आया और उनकी साधना में भी सदा

पूर्ण सामंजस्य की ही चेष्टा लक्षित होती रही। तदनुसार ऐसे मधुरोपासक पुरुष भक्तों ने भी कभी या तो निर्गुणवादी जैसे उपर्युक्त योग-साधनापरक भाव प्रकट किये अथवा इस प्रकार का वर्णन किया जिसमें किसी अनिर्वचनीय का आनन्द अनुभव में आता है तथा जिसका इसी कारण, कोई स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। सूफ़ी-संतों की 'बका' सम्बंधी धारणा भी लगभग इसी प्रकार की कही जा सकती है, जहाँ पर परमात्मा के साथ एकाकार हो जाने का तात्पर्य बराबर भिन्न-भिन्न शैलियों में समझाया जाता है। सगुणवादी भक्त सदा 'भेदभगति' को अधिक महत्व देना पसन्द करते हैं। इसी कारण, उनके यहाँ इष्टदेव का सान्निध्य ही अपना लक्ष्य हुआ करता है। ऐसी दशा में, यदि उनकी साधना मधुरोपासनापरक रही तो भी वे या तो उसके साथ अधिक से अधिक उसकी प्रेयसी पत्नी का पद ही ग्रहण करना चाहते हैं अथवा उसकी सहधर्मिणी की अनुचरी या सखी तक बनकर उसके सम्पर्क में आ जाना चाहते हैं। अनुचरी के लिए अपने इष्टदेव की 'युगल' मूर्ति आराध्य बन जाती है। कभी-कभी उसकी भावना उसकी विविध परिचर्याओं तक ही केन्द्रित रह जाया करती है। परन्तु सखीभाव के उपासना करने वाले भक्त अपने इष्टदेव एवं देवी के पारस्परिक आमोद-प्रमोद तथा मान-विरहादि के अवसरों पर भी काम देते हैं। ये या तो अपने को कभी दूत वा दूती की कोटि में रख लेते हैं अथवा उनके निकटवर्ती हितचिंतक से बनकर उनके बीच मध्यस्थता का काम करते हैं। ऐसे भक्तों की रचनाओं द्वारा जान पड़ता है कि उनका लक्ष्य बराबर उस इष्टदेव 'युगल' की नित्य लीलाओं को प्रत्यक्ष कर उससे आनन्द उठाना ही रहा करता है जिसके उपयुक्त उदाहरण रामोपासकों के 'रसिक संप्रदाय' तथा कृष्णोपासकों के 'सखी संप्रदाय' में उपलब्ध होते हैं।

सगुणवादी भक्तों की उपर्युक्त धारणाओं के कारण मधुरोपासना के क्षेत्र में भी प्रायः शृंगारिक रसिकता की कल्पना करना स्वाभाविक हो जाता है। तदनुसार उसकी सांगोपांग व्याख्या करते समय हमें

साहित्यिक 'रस' की भावना पर भी पुनर्विचार करना पड़ जाता है। भक्ति की साधना से सम्बंध रखने वाले उद्गार आध्यात्मिक भावनाओं द्वारा पूर्ण प्रभावित होने के कारण साधारणतः शांतरसपरक ही कहे जा सकते हैं। उनका वास्तविक उद्देश्य भी प्रायः सांसारिक प्रपंचों से विरत होकर परमात्मा की शरण में जाना ही हुआ करता है। परन्तु जहाँ पर सांसारिक जीवन का परित्याग कर लेने पर भी तज्जनित वासनाओं का सर्वथा निर्मूल हो जाना संभव न हो, वहाँ पर सिवाय इन बातों के कोई अन्य चारा नहीं रह जाता कि उसकी विषयभोग-सम्बंधी भावनाओं तक का भी किसी प्रकार उदात्तीकरण कर लिया जाय। इस प्रकार उनके अनुसार एक ऐसे वातावरण की मानसिक सृष्टि भी कर ली जाय जिसमें रह कर उनका उपभोग करना कभी हेय नहीं ठहराया जा सकता। सगुणवादी भक्तों की धारणा रखने वाले साहित्य के आचार्यों ने इसीलिए नवरसों के अतिरिक्त एक अपूर्व 'भक्तिरस' की भी कल्पना की है। इसके अन्तर्गत उन्होंने शांत, प्रीत, प्रेयस, वात्सल्य एवं मधुर नामक पाँच उपरसों की अवतारणा कर, तदनुसार स्थायी भावादि के भी विवरण दिये हैं।[1] इन विविध वर्गीकरणों तथा विवेचनों द्वारा यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि एक तो इनकी सृष्टि प्रधानतः श्रीकृष्ण की प्रसिद्ध लीलाओं तथा विशेष कर श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में किये गए तत्सम्बंधी वर्णनों को ही ध्यान में रख कर किया गया है और दूसरा यह कि इनका निरूपण करते समय साधारणतः उन मनोवृत्तियों के व्यवहारों की ही पुनरावृत्ति कर दी गई है जो मानवीय जीवन में भी उपलब्ध हो सकते हैं। कहते हैं कि मध्ययुगीन फ्रांस एवं इटली देशों के त्रुबेदोर्स (Troubadours) कहे जाने

१. यहाँ पर स्थायी भाव को मधुरारति की संज्ञा दी जाती है जैसे "स्थायीभावोऽत्र शृंगारे कथ्यते मधुरारतिः" रूपगोस्वामी रचित 'उज्ज्वल नीलमणिः' (बम्बई, १९३२ई०) पृ० ३८८। इस सम्बंध में विस्तार के लिए सारा ग्रन्थ ही द्रष्टव्य है—लेखक

वाले ईसाई भक्तों ने यीशु ख्रीष्ट के प्रति अपने प्रेम को वस्तुतः एक विधान (Law) का रूप दे रखा था। इसीलिए उन्होंने इसके विषय में किसी 'श्रृंगार रस के व्याकरण' की भी रचना कर डाली थी। वैष्णव भक्ति के मध्यकालीन साहित्याचार्यों ने भी इसी प्रकार, श्रीकृष्ण-प्रेम को मनोविज्ञान का ही रूप दे डाला और तदनुसार उसका विस्तृत विवेचन भी किया।[१]

अतएव, मधुरोपासना के विषय में कुछ अध्ययन करने पर पता चलता है कि यह किसी साधक और उसके उपास्य के बीच प्रगाढ़ रागात्मक सम्बंध सूचित करने वाली प्रेमाभक्ति का ही अन्यतम रूप है। यह दोनों के सीधे पारस्परिक लगाव की दशा में तथा उनमें से प्रथम के स्वयं सती पत्नी के भाव में आकर दूसरे को प्रियतम पति के भाव से स्वीकार करने में ही संभवतः, अधिक स्वाभाविक दीख पड़ती है। यह यहाँ की सामाजिक परंपरा का अनुसरण करना भी कहा जा सकता है। उपास्य को स्त्री रूप में मान कर चलने वाले सूफ़ी भक्तों को भी प्रायः, अखिल सौन्दर्य के प्रतीक 'युवा' पुरुष को ही उसका स्थान देना पड़ गया है। इसी प्रकार ज़ो सगुण रूप के उपासक हैं उनके प्रधानतः दास्यवृत्ति युक्त होकर सखी, दूती और मंजरी आदि बन जाने की लालसा करते रहने पर भी, हमें यही दीख पड़ता है कि वे भी बहुधा 'तत्सुख' की भावना की अपेक्षा 'स्वसुख' वाली मनोवृत्ति ही अपनाने लग जाते हैं। मधुरोपासना की प्रवृत्ति ही वह क्षेत्र है, जहाँ पर एक साहित्यिक शांत एवं श्रृंगार जैसे दो रसों को परस्पर हाथ मिलाते देख सकता है। तथा जहाँ एक साधक भक्त को अपने मोक्ष का यत्न करते समय भी विशुद्ध काम से सहायता लेने में किसी प्रकार के अनौचित्य का बोध नहीं हुआ करता।

---

१. **Dr. Sushil Kumar De: Early History of the Vaishnava Faith and Movement in Bengal (Calcutta 1942) pp. 123-24**

रामोपासकों का 'रसिक संप्रदाय'

एक

'रसिक' शब्द का प्रयोग, सामान्यतः उस व्यक्ति के लिए हुआ करता है जो रस का मर्मज्ञ हो अथवा जिसे रस लेना आता हो। उस दशा में 'रस' शब्द से अभिप्राय किसी भी विषय वा व्यापार में उपलभ्य 'विशेष आनंद' का हो सकता है। किन्तु यहाँ उसे अधिकतर उस अनुभूति का ही पर्याय मान लिया जाता है जो या तो प्रेम से सम्बद्ध हो, केलिपरक हो अथवा साहित्यिक आनंद वाली हो। इस कारण 'रसिक' शब्द से भी हमें प्रायः किसी 'प्रेमी', 'रसिया' अथवा 'सहृदय' का ही बोध होने लगता है। फिर भी 'रस' शब्द का प्रयोग कभी-कभी उस ब्रह्म के लिए भी किया गया पाया जाता है जो स्वयं आनंदस्वरूप है।[1] तब 'रसिक' की विशेषताओं का आरोप हम उस अध्यात्मलीन पुरुष में भी करने लग जाते हैं जिसे ब्रह्मानंद का अपूर्व स्वाद मिल चुका हो। इसीलिए जहाँ एक ओर हिंदी के प्रसिद्ध शृंगारी कवि बिहारी ने किसी 'रसिक' के 'गिरि' से भी 'ऊँचे मन' का 'प्रेम पयोधि' में डूब जाना बतलाया है, वहाँ दूसरी ओर 'श्रीमद्भागवत' के रचयिता ने 'रसिकों' को भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का बार-बार रसपान करने के लिए आमंत्रित किया है।[2] यहाँ बिहारी कदाचित् केवल उस 'प्रेमी जीव' की ही ओर संकेत करते जान पड़ते हैं जिसकी भावुकता उसे प्रेमानंद में आचूड़ मग्न किये रहती है

---

१. रसो वै सः। रसँ्ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।—तैत्तिरीयोपनिषद् (२।७)

२. गिरिते ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार
सोई पामर नरन को, प्रेम पयोधि पगार॥—बिहारी सतसई

और जो अपने प्रेमपात्र के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति की दशा में अन्य सभी कुछ का सर्वथा परित्याग कर देने को तैयार रहता है। परंतु श्रीमद्भागवतकार केवल उन भगवद्भक्तों को ही आह्वान करते समझ पड़ते हैं जिन्हें श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं के सतत चिंतन में आनंद मिलता है।[१] बिहारी के 'रसिक' को जहाँ लौकिक स्तर का व्यक्ति कह सकते हैं, वहाँ 'श्रीमद्भागवत' वाले 'रसिक' को हम आध्यात्मिक स्तर का साधक मानते हैं।

आध्यात्मिक साधना में निरत भक्तों के लिए 'रसिक' शब्द का प्रयोग बहुत दिनों से होता आया है। नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' के अन्तर्गत श्रीभट्ट के विषय में लिखते समय उन्हें 'रसिकों के मनमोद का अघट रस घन' कहा है।[२] ये श्रीभट्ट जी मधुरभाव की विविध लीलाओं में लगे हुए श्री राधाकृष्ण की मनोहारिणी छवि का ध्यान कर उसमें सदा आनंद-विभोर बने रहा करते थे। इसी प्रकार भक्त कवि व्यासजी ने भी अपने को 'रसिक अनन्य' की 'जाति' का बतलाया है। उन्होंने कहा है कि इस जाति की कुलदेवी राधा हैं, बरसाना गाँव है, ब्रजवासी लोग 'पाँति' वाले हैं, गोपाल गोत्र है, जनेऊ माला है, वृंदावन का निवास मात्र ही अपनी वृत्ति है, कृष्ण नाम ही संध्या, तर्पण, गायत्री अथवा जप है आदि।[३] इससे प्रकट होता है कि उक्त शब्द के प्रयोग द्वारा वे केवल किसी ऐसे वर्ग की ओर ही संकेत करते हैं जो एकांतनिष्ठ रूप से श्रीराधाकृष्ण की

१. पिवत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः
—श्रीमद्भागवत (१।१।३)

२. श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यौ अघट रस रसिकन मन मोद घन ॥
मधुर भाव सम्मिलित ललित लीला सुवलित छवि।
निरखत हरखत हृदै प्रेम बरसत सुकलित कवि ॥ आदि, छप्पय,७६

३. रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजवासिन सों पांति ॥
गोत गोपाल, जनेऊ माला. . . . वृत्ति सदा वृंदावन वास ॥ आदि,
भक्त कवि व्यासजी (वासुदेव गोस्वामी), पृ०२१५

भक्ति में निरत रहा करता है। इसीलिए इस प्रकार के एक आदर्श भक्त हरिदास जी का भी वर्णन करते समय नाभादास ने उनकी 'छाप' का 'रसिक' होना बतलाया है। उनके विषय में कहा है कि वे सदा कुंज-बिहारी श्रीकृष्ण के 'युगल नाम' का जप किया करते थे। उनकी 'सखी' का अधिकार उपलब्ध करके उनकी 'केलि' का अवलोकन करते थे। उन्हें अपने संगीत द्वारा सदा प्रसन्न किया करते थे तथा उन्हें उत्तम भोग लगाते थे।[1] इसके सिवाय अनेक ऐसे भक्तों के नामों में भी प्रायः 'रसिक' शब्द जुड़ा हुआ दीख पड़ता है।[2] अतएव जान पड़ता है कि लीला पुरुषोत्तम कहे जाने वाले श्रीकृष्ण की राधा के साथ की गई, विविध क्रीड़ाओं के ध्यान में मग्न रह कर आनंदित होने वाले को 'रसिक' कहा जाता था।

श्रीभट्ट निम्बार्क संप्रदाय के भक्त थे। वे 'हितू' सखी के अवतार माने जाते थे। उन्होंने मधुरोपासना विषयक 'युगलशतक' नामक एक रचना सं० १३५२ में की थी। इसी प्रकार श्री हरिदास जी का भी सम्बंध पहले उसी संप्रदाय से था, किन्तु उन्होंने 'सखी संप्रदाय' नाम के एक पृथक् संप्रदाय की भी स्थापना द्वारा 'नित्य विहार' के ध्यान एवं भजन की परिपाटी का प्रचार किया। वे मुग़ल सम्राट अकबर के समकालीन कहे जाते हैं। श्री व्यासजी अथवा हरिराम व्यास को हित हरिवंश स्वामी के शिष्यों में गिना जाता है जो 'राधावल्लभी संप्रदाय' के संस्थापक थे। परंतु हित हरिवंश जी जहाँ श्रीराधा को विशेष महत्त्व देते हुए उनके श्रीकृष्ण

---

१. आस धीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की ॥
   जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंज बिहारी।
   अवलोकत रहे केलि सखी सुख के अधिकारी ॥
   गान कला गंधर्व स्याम स्यामा को तोषैं।
   उत्तम भोग लगाइ मोर मरकट तिमि पोषैं ॥ आदि, छप्पय,९१

२. जैसे, रसिक स्वामी, रसिक दास, रसिक राय, रसिक गोपाल, रसिक गोविन्द, भगवत रसिक, रसिक नारायण, रसिक वल्लभ-शरण, रसिकदेव, आदि।

के साथ नित्य विहार का अनुभव करना अपना ध्येय मानते थे, वहाँ व्यासजी श्रीकृष्ण के ही अनन्योपासक जान पड़ते हैं और ये उसी दृष्टि से अपनी रसिकता को प्रकट करते हैं। ये दोनों भक्त भी हरिदास स्वामी के ही समकालीन थे और उनके साथ इन्हें 'हरित्रयी' कहने की भी परंपरा है। इसके सिवाय श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय में भी श्रीकृष्ण की विभिन्न गोपियों तथा विशेषकर श्रीराधा के साथ की गई लीलाओं का विशद् वर्णन किया जाता था और उनकी रासलीला को अधिक महत्व दिया जाता था। महाप्रभु चैतन्य के गौड़ीय संप्रदाय में 'महाभाव' एवं 'गोपीभाव' को लक्ष्य बनाकर सदा संकीर्त्तन करते रहने पर विशेष बल दिया जाता था। परन्तु इन दोनों में से किसी भी श्रीकृष्ण-भक्ति वाले सम्प्रदाय को कभी 'रसिकों' का सम्प्रदाय कहने की परंपरा नहीं चली। श्रीभट्ट, श्री हरिदास स्वामी, श्रीहितहरिवंश अथवा श्री व्यासजी के अनुयायियों का भी कोई ऐसा समुदाय नहीं सुना गया जिसे 'रसिक संप्रदाय' कहा जाय।

'रसिक संप्रदाय' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में किया गया दीख पड़ता है जो रामोपासक जीवाराम 'युगलप्रिया' की रचना है और जिसका निर्माण उनके द्वारा सं० १८९६ में हुआ तथा जिसकी 'रसप्रबोधिनी' नाम की एक टीका भी प्रसिद्ध है। उन्होंने वहाँ इसे किसी 'अनुपम परंपरा' के रूप में देखा है तथा इसके भक्तों द्वारा अनुभूत 'रति-कथा' का वर्णन करने की भी चेष्टा की है।[1] इस 'रसिक संप्रदाय' को कहीं-कहीं 'जानकी संप्रदाय', 'रहस्य संप्रदाय', 'जानकी वल्लभी संप्रदाय' अथवा 'सिया संप्रदाय' भी कहा गया दीख पड़ता है, किन्तु इसका सर्वप्रचलित और विख्यात नाम वही समझा गया है। इसका कारण यह दिया जाता है कि 'रसिक' शब्द का प्रयोग पहले-पहल इस संप्रदाय के

---

१. तेई मंगल रूप जाको जस बरनन करौं।
परंपरा सु अनूप, रसिक-संप्रदा रति कथा॥—'रसिक प्रकाश भक्त-माल', पृ० २

प्रमुख प्रवर्त्तक भक्त अग्रदास ने इसके उन अनुयायियों के ही लिए किया था जो भगवान राम की रसमयी लीलाओं का ध्यान करते हैं तथा जो उनकी अन्तरंग सेवा के आश्रित भी रहा करते हैं।[1] अग्रदासजी का तो यहाँ तक कहना है कि रसिक जन के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सीता एवं राम की लीलाओं का सही ध्यान कभी हो भी नहीं सकता।[2] ऐसे ही लोगों के हितार्थ उन्होंने अपनी पुस्तक 'ध्यान मंजरी' की रचना की है तथा उसे अपनी समझ के अनुसार उस आगम-साहित्य पर आधारित भी रखा है[3] जिसमें शाक्त, शैव और विशेषतः वैष्णवतंत्र ग्रंथों की गणना की जा सकती है। परन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, 'रसिक' शब्द इसके पहले से भी 'श्रीमद्भागवत' जैसे ग्रंथों के अन्तर्गत, उन भक्तों के लिए प्रयुक्त होता आ रहा था जो श्रीकृष्ण की लीलाओं का रसास्वादन किया करते थे। भक्त अग्रदास के प्रायः समकालीन कृष्ण-भक्तों में यह भलीभाँति प्रचलित भी था।

वास्तव में अपने इष्टदेव को उसकी 'शक्ति' के साथ सम्मिलित रूप में देखने अथवा इसे महत्त्व देने की परंपरा बहुत पहले से ही चली आ रही थी और इसका एक प्राचीन रूप वैदिक साहित्य तक में उपलब्ध है। वेदों में जहाँ इन्द्र का वृत्र पर विजय प्राप्त कर लेना प्रदर्शित किया गया है, वहाँ उसकी किसी दैवी शक्ति को ही महत्त्व दिया गया जान पड़ता है। 'ऋग्वेद' में अग्नि को तीन प्रकार की शक्तियों द्वारा युक्त माना गया

१. डा० भगवतीप्रसाद सिंह : रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, पृ० १४०

२. यह दंपतिवर ध्यान, रसिक जन नित प्रति ध्यावैं।
रसिक बिना यह ध्यान, और सपनेहु नहिं पावैं॥'ध्यानमंजरी', पृ० २२

३. रसिक जनन हितकरन, रहसि यह ताहि प्रकासी॥ वही, पृ०२४
तथा सुनि आगम विधि अर्थ, कछुक जो मनहिं सुहायो।
यहु दंपति वर ध्यान यथामति बरनि सुनायो॥ वही, पृ० २३

है तथा त्वष्टा के लिए भी कहा गया है कि उसमें विभिन्न प्राणियों के 'रूपविकर्त्तित्व' की अपूर्व शक्ति विद्यमान है। इस प्रकार की शक्ति को उस समय कदाचित् 'शची' जैसा पृथक् नाम देने की भी परंपरा थी और उसे इन्द्र जैसे वैदिक देवों की पत्नी के रूप में स्वीकार कर उसका कभी न कभी कोई व्यक्तिगत वर्णन तक कर दिया जाता था।[१] वेदों में लक्षित होने वाले बहुदेववाद की भावना जब एक देव की धारणा में परिणत हो गई और जब एक ही 'सत्' के लिए इन्द्र, मित्र, वरुण वा अग्नि जैसे नामों का प्रयोग सर्वमान्य-सा समझा जाने लगा, उस समय भी उस शक्ति विषयक रहस्यमयी कल्पना का सर्वथा लोप न हो सका। ज्ञानकांड की उपनिषदों तक में प्रसंगवश यह बात सदा स्वीकार कर ली जाती रही कि "वह 'सर्व-भूतान्तरात्मा' एक ही रूप को बहुधा परिवर्तित कर दिया करता है"।[२] "उसी इस एक के द्वारा विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ"[३] तथा "उसने दूसरे की इच्छा की और जिस प्रकार परस्पर आलिंगित स्त्री और पुरुष होते हैं वैसे ही परिमाण वाला हो गया। उसने इस अपनी देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला और उससे पति-पत्नी हुए"।[४] इसके सिवाय इसी बात को सांख्यदर्शन की उस मान्यता में भी देख सकते हैं जिसके अनुसार मूलतत्त्व को पुरुष एवं प्रकृति नामक दो तत्त्वों के संयोग के रूप में स्वीकार किया गया है।

सृष्टि के आदिम तत्त्व में मैटर (भौतिक तत्त्व) एवं एनर्जी (शक्ति

---

१. **Dr. Sudhendu Kumar Das : Sakti or Divine Power, p. 10.**

२. **एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधायः करोति--कठोपनिषद् (५।१२)**

३. **तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्--तैत्तिरीयोपनिषद् (२।५)**

४. **एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्री पुमाँसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधा पातयात्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां"--बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।३)**

तत्त्व) के अस्तित्व का अनुमान आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी किया है और यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि उसके क्रमिक विकास का नियम तक इन दोनों के पारस्परिक संयोग द्वारा ही संचालित होता है। आइन्स्टीन के अनुसार तो ये मैटर और एनर्जी वस्तुतः एक ही मूल तत्त्व के दो विभिन्न स्वरूप भी कहे जा सकते हैं तथा इनमें कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। घनपिंड, वास्तव में, शक्ति के समुचित रूप का ही एक विशिष्ट नाम है और इसी प्रकार शक्ति को भी हम उस घन पदार्थ का तरल रूप ही कह सकते हैं। ये दोनों ही एक दूसरे में परिणमित हो सकते हैं और इसी कारण, प्रत्येक परमाणु में ही इन दोनों के अस्तित्व का एक साथ होना स्वयंसिद्ध है। इसी प्रकार, जीव विज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर भी, पता चलता है कि जीवन का मूल रस अथवा प्रोटोप्लाज़्म वस्तुतः एक ऐसा पदार्थ है जिसके अन्तर्गत यौनपरक अथवा सेक्सुअल वैशिष्टच का कोई लक्षण नहीं प्रतीत होता। यह तो मूलतः केवल एक प्रतीक मात्र ही कहला सकता है।[१] मूलरूप में इस प्रकार का कोई भेद नहीं तथा इसका पीछे से भी दीख पड़ने लगना सृष्टि के क्रमिक विकास का केवल एक परिणाम ही ठहराया जा सकता है। अतएव, जिस प्रकार हम इस विश्व को निरा भौतिक मात्र अथवा केवल शक्ति रूप ही नहीं कह सकते, उसी प्रकार हमारा यह कथन भी ठीक नहीं कि किसी भी प्राणी में केवल पुंस्तत्त्व अथवा स्त्री-तत्त्व ही वर्तमान रहा करता है। वस्तुतः नर एवं नारी की भी इस विचार से कोई पृथक् सत्ता नहीं है।[२] एक ही विलक्षणता दूसरे में केवल आंशिक रूप में प्रतीत होती है, जिस कारण हम ऐसी कमी का अनुभव कर इसे उसका पूरक मात्र कह दिया करते हैं।

इसके सिवाय यदि यह एक तथ्य है कि जो किसी कण वा पिंड में

---

१. **Sexuality is to be understood as a picture or a symbol but not as a reality—Yuganaddha (Dr. Herbert v. Guenther) p. 44.**

२. **Man and woman are not separate entities.—Yuganaddha (Dr. Harbert v. Guenther) p. 75.**

है वही ब्रह्मांड में है अथवा व्यष्टि एवं समष्टि का मूलरूप ठीक एक ही प्रकार का है तो हमारा यह मान लेना भी कभी अनुचित नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार मानव सृष्टि के मूल में हमें स्त्री एवं पुरुष की पारस्परिक आकर्षण और सहयोग सम्बंधी प्रक्रियाएँ काम करती लक्षित होती हैं, उसी प्रकार सारे विश्व का उद्‌भव एवं विकास भी हमें स्वभावतः किसी पुरुष-तत्त्व और उसकी शक्ति की रहस्यमयी लीलाओं का ही परिणाम प्रतीत हो सकता है। दार्शनिक दृष्टि से मूलतत्त्व को हम चाहे एक निरपेक्ष सत्ता मात्र ही क्यों न कहें, जब हमें प्रत्यक्ष जगत् के वास्तविक रूप का भी निर्णय करना पड़ता है तथा उसके सतत विकास के नियमादि की ओर ध्यान देना पड़ जाता है तो यह स्वाभाविक है कि हम इस विषय में भी विविध प्रकार के अनुमान करने लग जायँ। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने अथवा धार्मिक विश्वास रखने वाले लोगों ने, इसी कारण, अपनी एक ऐसी मान्यता प्रदर्शित की है जिसके अनुसार पूरा ब्रह्मांड ही किसी नित्यपुरुष की सृजन-शक्ति का फलस्वरूप है और इस कार्य को उसने अपने लीला-विस्तार मात्र के लिए सम्पन्न किया है। वह शक्ति, वस्तुतः उससे पृथक् नहीं समझी जा सकती, किन्तु कार्याभिव्यक्ति की कल्पना करते समय, हमें प्रायः उसके प्रयोग वा सहयोग तक का अनुमान करना पड़ जाता है। इस प्रकार हमारे समक्ष वह उसकी एक सहधर्मिणी वा नित्यविहारिणी पत्नी का रूप धारण कर उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार एक ही मूलतत्त्व न केवल द्विधा विभक्त सा बन जाता है, अपितु उसकी सभी कार्य-पद्धति को भी हम दो दिव्य व्यक्तियों के पारस्परिक विहार का रूप दे डालते हैं। ऐसा नित्य-विहार वा नित्य-लीला ही वह आदर्श एवं अनुपम स्थिति है जिसके ध्यान और चिन्तन में किसी भक्त को अपूर्व 'रस' की अनुभूति हुआ करती है।

दो

परमतत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व की उपासना, उसकी शक्ति के साथ

युगल रूप में कब से चल निकली यह बतलाना कठिन है। इसके साथ ही, यह कहना भी सरल नहीं कि इसे सर्वप्रथम किसने आरम्भ किया होगा। जहाँ तक इसके भारतीय धर्मों द्वारा अपनाये जाने का प्रश्न है, इधर की खोजों से पता चला है कि इसका एक रूप सिन्धुघाटी की प्राचीन उपासना-पद्धति में भी पाया जाता रहा होगा, क्योंकि वहाँ के 'पुरुषदेव' की पूजा के साथ किसी 'देवी' के भी पूजन का स्पष्ट सम्बंध कल्पित किया गया है। मोहेंजोदरो एवं हरप्पा की सभ्यता के विषय में विचार करने वालों ने, इस सम्बंध में एक यह भी परिणाम निकाला है कि संभवतः, वहाँ के 'पुरुषदेव' में ही कभी पीछे वैदिक संहिताओं के रुद्रदेव का भी रूप ग्रहण कर लिया गया होगा। यजुर्वेद के 'त्र्यम्बक होम सूक्त' में जिस 'अम्बिका' की ओर किया गया संकेत मिलता है वह भी कदाचित् उस देवी का ही प्रतिनिधित्व करने लग गई होगी जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। इसके सिवाय यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि सिन्धुघाटी के अन्तर्गत जिस देवी की उपासना की जाती थी उसका सम्बंध उर्वरता के साथ लगभग उसी प्रकार का था जैसा वैदिकी 'अम्बिका' का था। ये दोनों ही लगभग एक ही समान 'माताएँ' भी कही गई थीं। रुद्र के शिव बन जाने पर फिर वही अम्बिका 'शक्ति' भी कहलाने लग गई और इन शिव एवं शक्ति के नित्य सम्बंध की चर्चा पीछे योग-साधना के भी सन्दर्भ में होने लगी।[१] शिव एवं शक्ति का यह युगल रूप कभी-कभी शिव के 'अर्धनारीश्वर' नाम द्वारा भी प्रकट किया जाने लगा। 'मत्स्य पुराण' के अन्तर्गत इस बात का भी उल्लेख किया गया कि ब्रह्मा के कभी वरदान देने के कारण शक्ति को शिव के साथ स्थायी संयुक्त रूप मिला था।[२] शैवागमों में तो यहाँ तक भी कहा गया मिलता है कि "शिव के बिना देवी नहीं और न देवी के बिना शिव ही हो सकता है। इन दोनों में उसी प्रकार कोई अंतर

---

१. डा० यदुवंशी : शैवमत, पृ० १४

२. मत्स्यपुराण (१५७।१२)

नहीं जिस प्रकार चन्द्रमा और उसका चन्द्रिका में नहीं दीख पड़ता।"[१] इस बात का प्रभाव उनमें विहित प्रायः सभी साधनाओं में भी लक्षित होता है।

इसी प्रकार हमें बौद्ध दर्शन में भी कहा गया मिलता है कि विश्व का मूलतत्त्व एक और अद्वय होता हुआ भी वस्तुतः द्विरूपात्मक है। उसमें एक ओर जहाँ 'धातु' (अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश) का अस्तित्व है, वहाँ दूसरी ओर 'स्कंध' (अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान) भी वर्त्तमान हैं। इन दोनों को वहाँ क्रमशः 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' नाम भी दिये गए हैं। इनमें से भी 'प्रज्ञा' को जहाँ स्त्री रूप दिया गया है, वहाँ 'उपाय' को पुरुष रूप में स्वीकार किया गया है। इसके साथ, यह भी बतलाया गया है कि इन दोनों की समरसता वा पारस्परिक मिलन ही वह स्थिति है जो मूलतत्त्व की अद्वयता के भाव को सूचित करती है। इसीलिए बौद्धों के 'सहजयान' संप्रदाय में भी जहाँ 'करुणा' एवं 'शून्य' की समरसता का आदर्श रखा गया है और उसकी सिद्धि के लिए चित्त के निःस्वभावीकरण की साधना बतलायी गई है, वहाँ भी ये दोनों नाम ऐसे ही रखे गए हैं जिनमें से एक के द्वारा स्त्रीत्व का बोध हो तथा दूसरा पुरुषत्व सूचित करे। उस दशा की उपलब्धि के लिए वहाँ प्रत्येक साधक को किसी न किसी मुद्रा वा स्त्री के संसर्ग से लाभ उठाने की व्यवस्था भी दी गई दीख पड़ती है। इसके सिवाय, जहाँ तक महायान के अनुसार कतिपय देवताओं को ध्यानी बुद्धों के रूप में देखने की बात है, हम वहाँ पर भी यही पाते हैं कि इनमें से प्रत्येक के साथ किसी न किसी 'शक्ति' वा उसकी देवी की भी कल्पना कर ली गई है। जैन तंत्र के अन्तर्गत

---

१. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तिश्चाभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥२६॥
—सिद्धसिद्धान्त पद्धति (४।२६)

तुलनीय—न शिवेन बिना देवी न देव्या च बिना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चिद् चंद्रचंद्रिकयोरिव ॥

इस प्रकार की बातों के स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु इतना पता अवश्य चलता है कि वहाँ भी तांत्रिक साधनाओं के प्रसंग में विभिन्न शक्तियों वा देवियों की, श्री अम्बिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी आदि सम्बंधी अनेक रूपों में व्यवस्था कर दी गई है। बौद्धों जैसी मुद्रा-साधना का वहाँ वैसा प्रचार नहीं हो पाया, क्योंकि जैन समाज में आचार-सम्बंधी कठोर नियमों का पालन भी अधिक दृढ़ता के साथ किया जाता था। जो साधक वहाँ, उनका उचित निर्वाह न कर सकने के कारण , चरित्रस्खलन के दोषी पाये जाते थे उन्हें 'निह्नव' ठहराकर निकाल भी दिया जाता था।[1]

वैष्णव सम्प्रदाय में जो भगवान तथा उनकी शक्ति का वर्णन मिलता है उससे पता चलता है कि उन दोनों की स्थिति भी ठीक अद्वयता की नहीं समझी जाती होगी। वहाँ पर पाञ्चरात्र संहिताओं के अन्तर्गत शक्ति एवं शक्तिमान् के विषय में कहा गया है कि पहली दूसरे से भिन्न है[2] तथा वे दोनों एक तत्त्व से केवल समझ भर पड़ते हैं।[3] फिर भी, वहाँ पर विष्णु एवं लक्ष्मी के पारस्परिक सम्बंध को सूर्य और उसकी किरण तथा समुद्र और उसकी लहर का जैसा भी होना कहा गया है।[4] इसके सिवाय विश्व सृष्टि को जहाँ भगवान् की लीला का 'स्पन्दन' मात्र बतलाया गया है वहाँ पर यह भी लिखा मिलता है कि उक्त सृजन द्वारा वह आत्म-प्रकाशन तथा प्रलय द्वारा आत्म-संहरण का कार्य किया करता है जिस कारण विष्णु

१. **M. B. Jhaveri: Comparative and critical study of Mantra Shastra, Ahmedabad p. 293.**

२. देवाच्छक्तिमतोभिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥ —अहर्बुध्न्य संहिता (३।२५)

३. व्यापकावीत संश्लेषादेकं तत्त्वमिवस्थितौ ॥ वही, (४।७८)

४. सूर्यस्य रश्मयो यद्वदूर्मयश्चाम्बुधेरिव ।
सर्वैश्वर्य प्रभावेन कमलाश्रीपतेस्तथा ॥—"जयाख्य संहिता" (६।७८)

की एक ही मूलशक्ति वस्तुतः दो रूपों में विभाजित-सी प्रतीत होती है। इन दोनों को उनकी क्रमशः 'स्वरूप शक्ति' वा 'समवायिनी शक्ति' एवं 'माया शक्ति' वा 'त्रिगुणात्मिका शक्ति' के नाम दिये गए हैं। इस प्रकार, यदि स्थूल रूप में देखा जाय तो पाञ्चरात्र एवं कश्मीर शैवदर्शन द्वारा निर्दिष्ट शक्तियों में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता। किन्तु इन दोनों मतों के अनुसार की जानेवाली उपासनाओं में वैसा साम्य नहीं दीख पड़ता। शैवभक्तों की उपासना जहाँ प्रधानतः ज्ञानपरक होती है, वहाँ पर वैष्णवों की विशुद्ध भक्तिपरक। इसी कारण, पहले में जहाँ अद्वैतभाव की विशेष मान्यता है, वहाँ दूसरी स्वभावतः द्वैतभाव का प्रायः आश्रय ग्रहण करती है। शैवोपासक अपने को मूलतः शिवरूप समझता है और उस पूर्ण दशा की उपलब्धि के लिए निरन्तर अपने मलादि दोषों को दूर करने में सचेष्ट रहा करता है। परंतु वैष्णव भक्त अपने को उस रूप में कभी स्वीकार नहीं करता। वह इसी कारण, अपनी मुक्त दशा तक में किसी न किसी प्रकार का पृथक् भाव ही रखता है। वह कदाचित् इतना ही चाहता है कि जहाँ तक संभव हो, 'मैं अपने उपास्यदेव के अधिक से अधिक सान्निध्य का ही आनंद अनुभव करूँ।' फलतः वैष्णवों की उपास्य-सम्बंधी भावना अधिकतर उसके सगुणत्व एवं साकारता द्वारा भी प्रभावित पायी जाती है। इस कारण उनके यहाँ भक्त अपने भगवान् तथा उसकी शक्ति की पारस्परिक लीलाओं के लिए न्यूनाधिक स्पष्ट एवं विस्तृत क्षेत्र की कल्पना कर लेता है। परंतु, शिवोपासकों की ज्ञानप्रधानभक्ति में उतनी आस्था को कभी प्रश्रय नहीं मिल पाता। इस कारण शिव एवं शक्ति की लीलाएँ न तो उतना मूर्त्त हो पाती हैं, न उनमें वैसा वैविध्य ही दृष्टिगोचर होता है, प्रत्युत उन दोनों के सामरस्य की अनुभूति मात्र उनका परम लक्ष्य बनकर रह जाती है।

वैष्णव संप्रदाय के जो अनेक उप-संप्रदाय हैं उनमें से सभी किसी में उपास्य देव को युगल रूप में मानते हुए, दोनों की पारस्परिक लीलाओं का चिंतन करना उतना महत्त्व नहीं रखता, न इन दोनों का रूप

ही सर्वत्र एक प्रकार का पाया जाता है। श्री रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय में उस युगल रूप को 'लक्ष्मीनारायण' का नाम दिया गया है, किन्तु उसमें ऐश्वर्यभाव की प्रधानता रहने के कारण, दोनों की लीलाओं की ओर उतना ध्यान दिया गया नहीं दीख पड़ता, न उन्हें कभी किन्हीं अवतारों की भाँति पुरुष एवं स्त्री के रूपों में स्वीकार ही किया जाता है। माध्व संप्रदाय में 'नारायण' को कभी 'हरि' कहा गया है तो कभी उसे 'राम' तक का भी नाम दिया गया है। परंतु वहाँ पर भी किसी ऐसे युगल रूप की कल्पना की गई नहीं मिलती जिसके दोनों अंगों की पारस्परिक लीलाओं का विशद् वर्णन किया गया हो। वहाँ पर भी ऐश्वर्य-भाव की ही प्रधानता दीख पड़ती है। इस कारण उसके भी अनुयायियों की भक्ति दास्यरूप ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार वल्लभ संप्रदाय की उपासना में भी उसके उपास्यदेव श्रीकृष्ण के बालरूप को विशेष महत्त्व दिया गया है। उनके कैशोर भाव की उपासना का भी वहाँ अभाव नहीं, किन्तु उनकी लीलाओं का परिचय प्रायः उनके अनेक सखाओं अथवा व्रज-वधूटियों के ही सम्बंध में दिया गया मिलता है। जहाँ उनकी परिणति कभी श्री राधिका के साथ विहार में हो जाती है, वहाँ उसका रूप सामान्यतः रहस्यमय हो जाता है। यहाँ पर एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिन गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का लीला करना कहा जाता है उनके वहाँ पर दो रूप भी माने जाते हैं। इनमें से एक जहाँ भगवान् की स्वरूपशक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ दूसरा मधुरभाव के उपासक का प्रतीक बन जाता है।

श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा के युगल रूप में भगवान् की उपासना को महत्त्व देने वाले वैष्णव संप्रदायों में निम्बार्क संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, राधा-वल्लभी संप्रदाय एवं सखी संप्रदाय प्रमुख हैं और इन्हीं के यहाँ उनकी पारस्परिक लीलाओं का विस्तृत वर्णन भी पाया जाता है। इनमें से निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत श्रीकृष्ण को 'सर्वेश्वर' तथा श्री राधा को 'सर्वेश्वरी' कहा गया है। इन दोनों को एक दूसरे के अनुरूप बतलाते हुए यह

भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतः एक ही ब्रह्म ने केवल पारस्परिक लीला-कार्य के निमित्त युगल रूप धारण कर लिया है। अतएव इन दोनों का नित्य एवं अपृथक् सम्बंध है तथा एक को दूसरे से अलग मान कर चिन्तन करने की कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिए श्रीकृष्ण एवं राधा के विहारों का वर्णन करते समय भी वहाँ राधा को अधिक से अधिक श्रीकृष्ण की स्वकीया ही स्वीकार किया गया है, परकीया नहीं। श्रीराधा का वहाँ 'कुमारी' वा 'कुमारिका' कह दिया जाना भी, वहाँ उनकी किशोरावस्था का ही सूचक समझा जा सकता है। परंतु चैतन्य संप्रदाय में श्रीराधा के श्रीकृष्ण की परकीया होने पर ही अधिक बल दिया गया जान पड़ता है। इस गौड़ीय मत के अनुसार वस्तुतः शक्तिमान् श्रीकृष्ण तथा उनकी शक्ति में न तो कोई स्पष्ट भेद लक्षित होता है, न उनके सम्बंध को हम अभेद ही ठहरा सकते हैं। इसी कारण इस मत को प्रायः 'अचिंत्यभेदाभेद' का नाम दिया गया भी दीख पड़ता है। इस मत के अनुयायियों ने श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति को 'अंतरंगा' भी कहा है जिसके 'ह्लादिनी' रूप द्वारा वे सदा आनन्दविभोर बने रहते हैं और उनकी इस दशा के निरन्तर दर्शन को ही वहाँ भक्ति कहा गया है। यह भक्ति स्वभावतः वैधी न होकर विशुद्ध रागात्मिका हुआ करती है। इसके आदर्श रूप को 'गोपीभाव' की संज्ञा दी जाती है जिसकी समुचित व्याख्या के लिए वहाँ 'भक्तिरस' नामक एक नवीन साहित्यिक रस की भी कल्पना की गई है। श्रीकृष्ण 'नित्य वृन्दावन' के अन्तर्गत सदा राधा एवं गोपियों के साथ भावमयी लीलाओं में निरत रहा करते हैं और उनके प्रति माधुर्यभाव की अनुभूति ही आदर्श 'महाभाव' है। किन्तु इस स्थिति की उपलब्धि भी किसी भक्त को तभी संभव है जब वह 'मंजरी' वा सेविका के रूप में पहले गोपियों का सान्निध्य ग्रहण करे। फिर उनकी सहायता से किसी प्रकार श्रीराधा का भी कृपा-पात्र बनकर वास्तविक भगवल्लीला का आस्वादन कर सके।

इसी 'मंजरी' के भाव को राधावल्लभीय संप्रदाय के अन्तर्गत 'सह-

चरीभाव' की भी संज्ञा दी गई मिलती है। इस संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंशजी ने श्री श्यामा एवं श्याम के नित्य विहार का दर्शन तथा इस प्रकार, उन दोनों के नित्य प्रेम की अनुभूति को ही प्रत्येक उपासक के लिए चरम उद्देश्य ठहराया है। उस प्रेम को ही किसी अपूर्व अद्वय युगल स्वरूप में देखने की चेष्टा भी की है। इस प्रेम की एक यह भी विलक्षणता है कि यह स्थायीभाव-सा बना रहा करता है और कभी एक क्षण के भी लिए मंद नहीं पड़ता। गौड़ीय संप्रदाय में जहाँ इसके साथ विरह-भावना की भी कल्पना कर इसे कुछ न कुछ मिश्रित रूप दे देते हैं, वहाँ इस संप्रदाय में इसकी चर्चा भी नहीं की जाती। इसी प्रकार यहाँ पर गौड़ीय संप्रदाय जैसा परकीयाभाव भी दृष्टिगोचर नहीं होता। श्यामा वा राधा यहाँ पर न केवल स्वकीया कही जा सकती हैं, किन्तु वे ही परम सर्वस्व भी हैं। उनके साथ नित्य मिलन के रूप में स्थित श्याम के नित नूतन प्रेम की अनुभूति ही भक्त का परम अभीष्ट है। इस प्रेम के साथ विरहभाव के सम्बंघ का कुछ आभास भक्त ध्रुवदास के उस विचित्र वर्णन द्वारा भी दिया जा सकता है, जहाँ पर उन्होंने कहा कि "प्यासा वहाँ पर जल नहीं पीता, प्रत्युत वहाँ पर प्यास को ही जल पीता हुआ जान पड़ता है। प्यास और जल ये दोनों ही वहाँ पर एकरूप बन जाते हैं।"[१] स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित सखी संप्रदाय तथा राधा-वल्लभी संप्रदाय में इन बातों की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं लक्षित होता। उनके यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं को अधिकतर निकुंज-लीला का नाम दिया गया मिलता है और उनकी साधना में वैराग्य भाव भी अधिक है। परन्तु जहाँ तक 'नित्य किशोर' के युगलरूप की उपासना तथा नित्य वृंदावन विषयक धारणादि का प्रश्न है, इन दोनों संप्रदायों में बहुत साम्य है।

---

१. अटपटी भांति कौ विरह सुनि, भूलि रह्यौ सब कोइ।
जल पीवत है प्यास को, प्यास भयो जल सोइ॥
— रहस्यमंजरी लीला (श्रीध्रुवदास) पृ० १८७

तीन

इस प्रकार हमें पता चलता है कि परमतत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व को युगल रूप में स्वीकार कर तदनुसार साधना करने अथवा उसके दोनों अंगों की पारस्परिक दिव्य क्रीड़ाओं की मधुर कल्पना का आनन्द लेने की परंपरा बहुत व्यापक और सामान्य बनी रहती आई है। इसके सिवाय हमें यह भी जान पड़ता है कि उस तत्त्व को श्रीकृष्ण एवं राधा का युगल रूप देने वाले भक्तों के यहाँ यह विशेष प्रकार से मान्य है। संभवतः इन्हीं जैसी बातों की प्रधानता होने के कारण श्रीकृष्णावतार को 'लीला पुरुषोत्तम' की भी संज्ञा दी जाती आई है। श्रीकृष्ण को आराध्य मानकर उपासना करने वालों ने जिस भक्तिरस का वर्णन किया है उसके उन्होंने प्रायः पाँच भेद बतलाये हैं जिन्हें उन्होंने क्रमशः शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य के नाम दिये हैं जिनमें से क्रमशः एक से दूसरे को उन्होंने विशेष महत्त्व भी दिया है। परंतु इस प्रकार की मान्यताओं द्वारा हमें केवल यही सूचित होता है कि ऐसे भक्तों के उपास्यदेव का युगलरूप में होना आवश्यक नहीं। यहाँ तो भगवान् को हम अधिक से अधिक स्वामी, सखा, दिव्य शिशु अथवा पति रूप में ही स्वीकार करते हैं। उसके प्रति इस प्रकार का भाव रखते हैं जैसे उसका और हमारा कोई अपना व्यक्तिगत-सा सम्बंध हो। दास्यभाव के प्रसंग में जहाँ एक भक्त अपने को भगवान् का दास वा किंकर मानता है, वहाँ सख्यभाव में वह उनका सखा बन जाता है। माधुर्यभाव में वह अपने को उनकी पत्नी तक मान बैठता है। परंतु जब उसे यह भी ध्यान में आ जाता है कि उसके आराध्यदेव का स्वयं नित्य युगल रूप में होना संभव है। उस दशा में वह उसके दोनों दिव्य अंगों की पारस्परिक नित्य लीलाओं की भी कल्पना करने लगता है, तब उसे अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण में स्वभावतः बहुत कुछ परिवर्त्तन करना पड़ जाता है और उसे एक अपूर्व तटस्थ वृत्ति भी स्वीकार करनी पड़ जाती है। इस प्रकार वह अंत में, या तो श्रीराधा की सखी सहचरी बन जाता है अथवा उनकी वा केवल गोपियों की ही 'मंजरी' वा

दासी का स्थान ग्रहण कर उस दिव्य युगल रूप की नित्य क्रीड़ाओं का प्रत्यक्ष दर्शन करने की चेष्टा में उसके सान्निध्य की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

यदि हम इस मनोवृत्ति के विषय में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लग सकती कि यहाँ पर भी, वस्तुतः हम उस उत्कृष्ट अनुराग की ही अनुभूति चाहते हैं जो पति एवं पत्नी के दाम्पत्य-भाव अथवा माधुर्यरस में उपलभ्य है। अंतर केवल इतना ही है कि दाम्पत्य-भाव की विशुद्ध अनुभूति की दशा में आराध्य और आराधक दोनों के मिलकर एकरूप हो जाने की स्थिति भी आ सकती है, जहाँ उक्त प्रकार से अधिक से अधिक सान्निध्य की प्राप्ति भी दोनों को एक दूसरे से पृथक् ही रख पाती है। इसके सिवाय दाम्पत्यभाव की चरम दशा उपलब्ध करने की संभावना हमें उन दोनों की एकरूपता को जल में जल के समान मिल कर तदाकार एवं तद्रूप हो जाने की स्थिति की कल्पना करने को भी बाध्य करती है जो परमात्म तत्त्व के निर्गुण एवं निराकार होने पर ही अधिक संभव है। ब्रह्म को जब हम आत्मा के रूप में अनुभव करते हैं और उसे इस भाव के साथ भी देखते हैं कि उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं, उस दशा में हमें जीवतत्त्व को उससे पृथक् मानने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। हम केवल इतना ही कहा करते हैं कि उसके साथ हमारे पार्थक्य का बोध केवल अज्ञान जनित है। जब कभी हमें वस्तु-स्थिति का पूर्ण अनुभव हो जाय तो हम उसमें अपना स्थान उसी प्रकार ग्रहण कर लेते हैं जैसे कोई बूंद समुद्र के भीतर कर सकता है। उसमें हम अपने को खो-सा देते हैं। फिर उसी प्रकार उससे पृथक् होना नहीं चाहते जिस प्रकार दाम्पत्यभाव की अनुभूति वाले किया करते हैं। उस समय हम परमात्मतत्त्व की कल्पना उसके अद्वैत रूप में अवश्य करते हैं, किन्तु उसके प्रति किसी विलक्षण प्रेमाभक्ति का भाव प्रकट करने के लिए हम साधक के पहले उससे पृथक् होकर उसकी प्राप्ति के लिए आतुर बन जाने का भी अनुमान कर लेते हैं। उसी दशा में दाम्पत्यभाव का प्रश्न भी आता है। इसीलिए हम उसकी आत्मोपलब्धि की दशा का वर्णन करते

समय भी कह देते हैं कि "व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है, न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञात्मा से आलिंगित होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है, न भीतर का। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।"[1] जो कभी द्वैतभाव, मात्र की कल्पना में पूर्णतः संभव नहीं जान पड़ता। जब कभी यहाँ द्वैतभाव की संभावना होगी तो वह ऐसी ही दशा में हो सकती है, जब कोई एक ही तत्त्व दो में विभक्त बन कर वैसी स्थिति उत्पन्न कर ले जैसा हम इसके पहले ही देख आये हैं।[2]

वैष्णवभक्त, चाहे वह अपने आराध्य को विष्णुरूप में ही स्वीकार करता है अथवा उनके किसी अवतार के रूप में उसकी कल्पना कर उपासना में प्रवृत्त होता है, वह बराबर यही समझा करता है कि मैं उससे पृथक् हूँ। उसकी दृष्टि से सायुज्य मुक्ति का होना भी वस्तुतः यही अर्थ रखता है कि उपासक उपास्य में प्रवेश करके उसका अधिक से अधिक एक अंशमात्र बन जाय। इसका उसके साथ पूर्ण रूप से अथवा अभेदभाव के साथ तद्रूप हो जाना कभी संभव नहीं समझा जा सकता। इसीलिए यह उसके अति निकट रहना चाहता है अथवा उसके 'समान' तक हो जाने की इच्छा करता है, किन्तु सर्वथा 'वही' हो जाने का यह कभी स्वप्न भी नहीं देखता। इसके सिवाय वैष्णवभक्त की प्रवृत्ति स्वभावतः, अपने आराध्य को सगुण एवं साकार मानने की ही ओर अधिक हुआ करती है। यह उसे

---

१. तद्यथा प्रिययास्त्रिया सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममाप्तकाममकामं रूपं शोकान्तरम् ॥––बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।२१)

२. सवै नैवरेमे तस्मादेकाकी न रमते सद्वितीय मैच्छत् सहैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इयमेवात्मानं द्वेधा पातयात्ततः पतिश्चपत्नीचाभवतां––वही, (१।४।३)

किसी 'पुरुषोत्तम' के रूप में स्वीकार करता है। उसके साथ उसकी किसी 'शक्ति' की भी कल्पना कर कभी-कभी उसे उसके युगल रूप में भी देखना चाहता है। इस प्रकार उसकी विभिन्न लीलाओं का वर्णन करने के लिए एक आधार तैयार कर लेता है। अतएव, जिस भक्तिपरक दाम्पत्यभाव की अनुभूति इसे अपने और आराध्यदेव के सम्बंध में हो सकती थी उसका रूप दूसरा बन जाता है। वह दाम्पत्यभाव स्थानान्तरित होकर स्वयं आराध्यदेव के ही युगल रूप में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार उसका आधार स्वयं भगवान और उसकी शक्ति ही बन जाया करते हैं। ऐसी दशा में यह साधक उसकी अनुभूति केवल तटस्थ रहकर ही कर सकता है, स्वयं अपने निजी सम्बंध में नहीं कर सकता। रसिक संप्रदाय के कुछ आचार्यों ने इसीलिए आराध्यदेव तथा उनकी अर्धांगिनी देवी के सम्बंध पर आश्रित दाम्पत्यभाव के आनन्द को 'तत्सुख' की संज्ञा दी है, जहाँ उन्होंने भक्त एवं भगवान के बीच कल्पित किये गए इसी भाव को 'स्वसुख' बतलाया है। परन्तु उनका यह भी कहना है कि इन दोनों प्रकार के सुखों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, क्योंकि 'तत्सुख' की वास्तविक अनुभूति भी स्वभावतः 'स्वसुख' में ही परिणत हो जाया करती है।

इस सम्बंध में यहाँ पर एक और भी बात उल्लेखनीय है कि जब हम परमतत्त्व वा परमात्मतत्त्व को किसी सगुण और साकार पुरुष के रूप में स्वीकार कर उसकी आराधना में प्रवृत्त होते हैं। उसके विषय में चिन्तन करने लगते हैं तो यह आवश्यक है कि हम क्रमशः उसके ऊपर कितने ऐसे गुणों एवं व्यापारों का भी आरोप करने लग जायँ जो साधारणतः मानव-जीवन में उपलभ्य हैं। हम उसे कोई सुन्दर से सुन्दर शरीर प्रदान करेंगे, उसकी प्रत्येक चेष्टा को कोई न कोई आदर्श रूप देंगे तथा उसके चमत्कारों तक की कल्पना करेंगे। परंतु हम चाहे उसे जिस किसी भी कोटि के ऐश्वर्य शक्ति अथवा सौन्दर्य के साथ सम्पन्न करें अथवा उसके गुणों को 'दिव्य' कहकर उसके कार्यकलाप की 'अलौकिकता' पर मुग्ध होने लग जायँ, हम उसका वर्णन बराबर वैसा ही करेंगे जैसा हमारे मानव-

जीवन की दृष्टि से सुसंगत होगा तथा बराबर यह भी संभव रहेगा कि हम इस विषय में विस्तृत विवरण देते समय ठेठ मानवीय स्तर तक भी पहुँच जायँ। अतएव, जब कभी हम उस 'पुरुषोत्तम' को उसके युगल रूप में देखने लगते हैं और उसे अपनी शक्ति देवी के साथ नित्य क्रीड़ा में प्रवृत्त पाने की कल्पना करने लग जाते हैं तो स्वभावतः हमारी प्रवृत्ति उसे किसी परम वैभवशाली राजपुरुष के रूप में मानने की भी हो जाती है। हम उसके किसी 'दिव्य' लोक की कल्पना कर उसे यहाँ के सुरम्य स्थान एवं प्रासादादि का प्रतिनिधित्व प्रदान कर देते हैं, उसके विविध पार्षदों को यहाँ के आदर्श अनुचरों का रूप दे देते हैं, वहाँ के 'दिव्य' परिचारकों एवं परिचारिकाओं को भी यहाँ के ही आदर्शानुसार गढ़ लेते हैं तथा उसके विभिन्न लीलापरक व्यापारों के नाम पर हम अपने वर्णनों में प्रायः अनेक ऐसी बातों का भी समावेश कर लिया करते हैं जो साधारणतः किसी प्राकृत पुरुष के ही अनुरूप हो सकती हैं और जिन्हें विशुद्ध उपासनाभाव की दृष्टि से हम अनावश्यक भी कह सकते हैं। भक्त की भावुकता, अपने भगवान के अपरिमित वैभव का चित्रण करते समय उस पर अधिकाधिक रंग चढ़ाती चली जाती है। कभी-कभी प्रसंगवश, उसके 'दिव्य' और 'अलौकिक' समझे जाने वाले रहस्यपूर्ण व्यापारों को भी नितान्त लौकिक और मनमाने रूप दे डालती है।

वैष्णवधर्म वा वैष्णवसंप्रदाय के क्रमिक विकास का इतिहास बतलाता है कि उसके आराध्य देव विष्णु का 'लक्ष्मीनारायण' रूप पहले 'शिव-शक्ति'-सा केवल दार्शनिक मात्र ही था तथा उसके पुरुषतत्त्व एवं स्त्री-तत्त्व के पृथक् रूप वैसे निखर नहीं पाये थे। परंतु उसके श्रीकृष्णावतार वाले 'राधाकृष्ण' के रूप द्वारा उस स्थान के ग्रहण कर लिए जाने पर इसके दोनों अंगों का अधिकाधिक विकास होता चला गया तथा उन पर मानवीय व्यापारों का उसी प्रकार आरोप भी होता गया। वैष्णव पुराणों के अन्तर्गत उन्हें पहले दिव्य रूपों में देखा गया और उनकी लीलाओं को अतिमानुषी रूपों में ही चित्रित किया गया। परंतु जब इन्हीं बातों का

वर्णन किन्हीं काव्य-ग्रंथों द्वारा भी किया जाने लगा अथवा जब कभी भावुक भक्तों ने अपनी भावनाओं को अधिक विस्तार देने के यत्न किये तो न केवल श्रीकृष्ण एवं राधा को मानवीय स्तर तक ला दिया गया, अपितु उनकी लीलाओं में विलासी जीवन तक का समावेश कर दिया गया। गोलोक वाले श्रीकृष्ण एवं राधा की धारणा में दिव्यत्व का अंश अधिक रहा, किन्तु उनकी वृंदावन वाली भावनाओं में कभी-कभी उसका लोप तक हो गया। वृंदावनविहारी श्रीकृष्ण के दैनिक व्यापारों को इस प्रकार देखा गया मानो वे किन्हीं साधारण प्रेमी एवं प्रेमिका के ही जैसे हों। श्रीकृष्ण यहाँ न केवल श्रीं राधा, प्रत्युत अनेक सुन्दरी गोपियों के भी साथ प्रणय-केलियों में प्रवृत्त होते देखे गए। उनके सम्बंध में मान, विरह, अभिसारादि के अतिरिक्त रासलीला जैसे आमोद-प्रमोद की रँगरेलियों तक की विभिन्न कल्पनाएँ कर ली गईं। ऐसे वर्णनों को पढ़ते समय हमें यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि भावुक भक्तों एवं कवियों ने श्रीकृष्ण एवं राधा को सदा उनके दिव्य रूपों में ही नहीं देखा होगा, प्रत्युत उनकी लीलाओं का विशद् चित्रण करने के मोह में आकर उन्होंने उन्हें प्रायः विस्मृत भी कर दिया होगा। इस प्रकार उनके ही व्याज से ऐसे विलासी व्यक्तियों का चित्र प्रस्तुत कर दिया होगा जिन्हें हम किसी प्रकार भी अपने आराध्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।[१]

परंतु भक्तों एवं कवियों की उपर्युक्त चेष्टाओं के विषय में हमें कोई आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। परमतत्त्व वा परमात्म-तत्त्व का युगल रूप ही मूलतः ऐसा था जिसके विषय में उक्त प्रकार की धारणाओं का विकास पाना स्वाभाविक था। उस युगल रूप के अन्तर्गत जो पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व की कल्पना की गई थी, उसके साथ यह भी भावना रही कि उन दोनों की ही लीलाओं के फलस्वरूप सारे विश्व का उद्भव

१. इस अनुमान का समर्थन हमें कभी-कभी उन 'अष्टछाप' सम्बंधी विविध कल्पनाओं द्वारा भी मिलता है जिनका आनन्द लेने के यत्न ऐसे प्रायः सभी भक्तों ने किये हैं।—लेखक।

एवं विकास होता है। यह पहले एक दार्शनिक सिद्धान्त मात्र ही था। परंतु जिस समय भक्ति-साधना प्रचलित हो चली और भक्तों ने स्वभावतः, उक्त युगल रूप को किन्हीं दिव्य रूपों में देखना आरम्भ किया तो उनकी रहस्यमयी लीलाओं के रूप में भी कुछ न कुछ परिवर्तन आ गया और वे क्रमशः अधिकाधिक स्पष्टतर होती चली गईं। इस प्रकार, जब तद्विषयक भावना उस स्तर तक आ पहुँची जब श्रीकृष्ण एवं राधा को साधारण पुरुष एवं स्त्री प्रेमियों के रूप में भी ग्रहण किया जाने लगा तो उनकी उपर्युक्त लीलाएँ भी साधारण क्रीड़ाओं के रूप में परिणत हो गईं। ऐसी दशा में उनके विविध विलासों का वर्णन करते समय स्वभावतः उन अनेक बातों का भी उल्लेख किया जाने लगा जो विशेषतः कामशास्त्र के अनुसार प्रतिपादित की जाती हैं। कामशास्त्र तथा सामुद्रिकशास्त्र सम्बंधी छोटे-बड़े ग्रंथों का निर्माण ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही होने लगा था। उसकी तीसरी शताब्दी के आसपास तक कामसूत्रों का प्रणयन अवश्य हो गया था, किन्तु कामिनी लक्षण एवं कन्या विस्रंभण मात्र ही उनके प्रमुख उद्देश्य थे जिन्हें सामुद्रिकशास्त्र के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी। यौन-सम्बंध की बातों का वर्णन भी वहाँ वैवाहिक मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए ही किया गया। था कामशास्त्र एवं सामुद्रिकशास्त्र का अनुसरण पीछे विविध कलाओं में भी किया जाने लगा तथा उन पर भक्तों ने भी विशेष ध्यान देना आरम्भ किया। धार्मिक भावों वाले कवियों ने उनकी अनेक बातों का अपनी स्तुतियों एवं स्तोत्रों तक में उपयोग किया। इस प्रकार साहित्यिक शृंगार रस को ऐसी रचनाओं में भी महत्त्व दिया जाने लगा जिनका उद्देश्य वस्तुतः आध्यात्मिक मात्र था और जिनमें शांतरस की ही प्रधानता अधिक उपयुक्त हो सकती थी। तदनुसार तेरहवीं शताब्दी के वैष्णवभक्त कवि जयदेव के इस कथन में किसी प्रकार के अनौचित्य की आशंका नहीं रह गई कि "यदि तुम्हारा सरस मन हरिस्मरण में लगता हो और तुम्हें इसके साथ ही विलास-कलाओं में भी कुतूहल हो तो मेरी इस मधुर कोमलकांत पदावलीमयी

('गीतगोविन्द' नामक) रचना को श्रवण करो।"[१] और वह इतनी पसन्द आयी कि बहुत से अन्य कवियों ने भी उसके अनुकरण में अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर दीं।

चार

वैष्णवसंप्रदाय के अनुसार भगवान विष्णु के कई अवतार हैं जिनमें से श्रीराम एवं श्रीकृष्ण ये दोनों अधिक प्रसिद्ध हैं। दशावतारों की भावना के अनुसार श्रीराम का स्थान क्रमश: सातवाँ पड़ता है, जहाँ श्रीकृष्ण उसके अनन्तर अर्थात् आठवें स्थान पर आते हैं। वैष्णव ग्रंथों में तथा भारतीय भाषाओं की विभिन्न साहित्यिक कृतियों में भी इन दोनों अवतारों की चर्चा विशेष रूप से की गई मिलती है। इन दोनों अवतारों की विविध लीलाओं का वर्णन करते समय इनके प्राय: पूरे चरित्रों के प्रसंग दिये जाते हैं। उनमें से विशिष्ट स्थलों को चुनकर कभी-कभी उनके आधार पर अत्यन्त विशद् रूप में काव्य-रचना भी प्रस्तुत की जाती है। इसी प्रकार जो रचनाएँ अधिकतर भक्तिभाव के ही साथ लिखी जाती हैं उनके कवि इन अवतारों का गुणगान करते नहीं अघाते और उन्हें पूरा विस्तार देते भी चले जाते हैं। तदनुसार इन दोनों अवतारों के प्रति बन गई पृथक्-पृथक् भावनाओं के आधार पर इनके दो विशिष्ट रूप भी बन गए हैं जो एक दूसरे से कई बातों में भिन्न हैं और जिन्हें ध्यान में रखते हुए श्रीकृष्ण को जहाँ 'लीलावतार' वा 'लीला पुरुषोत्तम' कहा जाता है, वहाँ श्रीराम के लिए 'मर्यादावतार' अथवा 'मर्यादापुरुषोत्तम' जैसे शब्दों का प्रयोग होता है। कहा जाता है कि मानव-शरीर धारण कर तथा विविध लीलाओं द्वारा बिगड़ी स्थिति को सुधारकर आदर्श समाज की स्थापना करना इन दोनों ही अवतारों का प्रमुख लक्ष्य था। परंतु श्रीराम ने जहाँ अपने युग की

---

१. यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलासकलासुकुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावली, शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥३॥
—'गीतगोविन्द'

परिस्थिति के अनुसार दुष्टकर्मा रावणादि का वध कर फिर से मर्यादा की स्थापना की और सबके लिए आदर्श 'रामराज्य' भी चलाया, वहाँ श्रीकृष्ण ने उसी प्रकार, अपने समकालीन समाज की प्रगति में बाधक बनने वाली शक्तियों का उन्मूलन कर उसे इस प्रकार संगठित किया जिससे वर्गभेद की मात्रा अत्यन्त कम हो गई। उन्होंने एक ऐसे व्यक्तित्व का आदर्श भी रखा जिसके महत्त्व को समझ पाने वाला जनसाधारण भी अपनी बहुमुखी प्रगति में कृतकार्य हो सकता था। अतएव यह स्वाभाविक था कि श्रीरामावतार की अपेक्षा श्रीकृष्णावतार की लीलाओं में अधिक वैविध्य आ जाय। श्रीरामावतार को तत्त्वतः किसी एक राजपुरुष के रूप में चित्रित किया गया जिसके सामने प्रत्येक सामाजिक व्यापार का न्यूनाधिक वैधानिक और मर्यादित होना विशेष महत्त्व रख सकता था, जहाँ श्रीकृष्ण को किसी एक ऐसे जननायक का रूप दिया गया जो प्रत्येक व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का ध्येय रखता हो। श्रीकृष्ण के भक्तों ने इसी कारण, अपने भगवान को पूर्णावतार के रूप में देखा। उनकी उपासना करते समय अपने लिए उस मनोवृत्ति का भी पूर्ण औचित्य स्वीकार किया जो उनके प्रति दाम्पत्य-भाव पर आश्रित हो सकती थी। इसके विपरीत श्रीराम के भक्तों ने उन्हें अधिकतर सर्वैश्वर्यपूर्ण राजाराम के ही रूप में देखा। इस कारण, उनके लिए अपने स्वामी के प्रति दास्यभाव ही अधिक उपयुक्त जान पड़ा।

परंतु अपने भगवान को उसके युगल रूप में देखने तथा उसकी उसी रूप में उपासना भी करने की परंपरा बहुत प्राचीन काल से चली आती थी। उसे लोकप्रियता भी मिलती जा रही थी जिसके अनुसार श्रीराम के उपासकों ने भी अपने आराध्यदेव को 'युगल सरकार' के रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने महाराजा श्रीरामचन्द्र के साथ उनकी सहधर्मिणी महारानी सीता के युगल रूप की अवतारणा की। उन्हें साकेत लोक में नित्य विहार करने वाला बतलाया गया। श्रीकृष्णभक्तों के समान इन्होंने भी उनकी गुप्त लीलाओं के सतत चिन्तन तथा उनकी मधुर अनुभूति को ही अपने लिए विशिष्ट आनंद

का आधार मान लिया। इसके सिवाय जो उपासना श्रीकृष्णभक्तों के यहाँ माधुर्यभाव के साथ समन्वित थी और जिसे वे अपने भगवान के प्रति उसकी पत्नी के भाव से बरताव करते हुए अपनाते आ रहे थे उसके भी मधुर आकर्षण से ये अपने को सर्वथा मुक्त न कर सके। इस प्रकार इनकी भक्ति-प्रणाली में भी क्रमशः उन सारी बातों का समावेश होता चला गया जो इसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप आ सकती थीं। फलतः श्रीरामोपासकों में भी श्रीकृष्णोपासकों जैसा एक वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने आराध्यदेव के युगल स्वरूप की लीलाओं को अति निकट से अनुभव करने का लक्ष्य अपने सामने रखा। इस प्रकार वह 'सखी संप्रदाय' वा 'रसिक संप्रदाय' भी कहलाया। उससे ही मिलता-जुलता, प्रत्युत उसके साथ ही उनका ऐसा वर्ग भी स्थापित हो गया जिसके अनुयायियों ने भगवान रामचन्द्र के प्रति अपने पति की सी भावना रखी और उनके लिए मधुर-भाव की उपासना भी स्वीकार की।

फिर भी रामोपासकों के इस रसिक संप्रदाय को हम श्रीकृष्णभक्तों के किसी एक संप्रदाय की अनुकृति मात्र ही नहीं ठहरा सकते। सखी-भाव की उपासना निम्बार्क संप्रदाय में प्रचलित थी, उपास्य देव को वहाँ युगल रूप में स्वीकार किया गया था[१] और स्वयं निम्बार्काचार्य तक को श्रीराधा की अवतार सखी श्री रंगदेवी का अवतार होना उसकी एक शाखा को मान्य था।[२] यहाँ तक कि उसके श्रीनिवास जी से लेकर श्रीभट्टजी पर्यन्त तीस आचार्यों को भी श्रीरंगदेवी की तीस सखियों का अवतार मानने की परंपरा थी।[३] इसके अतिरिक्त उसके हरिव्यासाचार्य ने उसके अन्तर्गत शांत, दास्य, सख्य और वात्सल्य से कहीं अधिक माधुर्य रस को महत्त्व भी दिया था। इसी प्रकार स्वामी हरिदास जी के सखी संप्रदाय में भी

---

१. जुगलकिशोर हमारे ठाकुर। इ०—श्रीभट्ट जी कृत 'जुगलसतक'

२. 'निम्बादित्यावतारात्मा रंगदेवी तदाकृतिः' आदि—हरिव्यास (सिद्धान्त रत्नाञ्जली)

३. श्री सर्वेश्वर (श्री वृन्दावन, वर्ष ६, अंक २, पृ०७)

प्रायः इन्हीं बातों को न्यूनाधिक स्वतंत्र रूप में अपनाया गया था। यहाँ पर निम्बार्क संप्रदाय का जैसा कोई दार्शनिक आधार महत्त्व नहीं रखता था और सारी बातें हृदयपक्ष पर ही आश्रित रहती थीं। ललिता सखी को यहाँ आचार्यत्व प्रदान किया जाता था, 'रसिक' छाप स्वीकृत थी, नित्य किशोर की उपासना थीं, युगल मंत्र का जप चलता था, श्यामा महारानी इष्टदेवी थीं और रसिकों की वाणी को ही वेदवत् प्रतिष्ठा दी जाती थी।[1] वास्तव में, कदाचित् ऐसी ही कतिपय सामान्य विशेषताओं के कारण, हरिदासी संप्रदाय के टट्टी संस्थान को निम्बार्क संप्रदाय के साथ जोड़ देने की भी परंपरा प्रचलित है।

राधावल्लभ संप्रदाय का दृष्टिकोण इन दोनों से अवश्य कुछ न कुछ भिन्न था और वहाँ राधा को सर्व स्वतंत्र तक मान लेने की प्रवृत्ति थी। वहाँ पर किसी शास्त्रीय मान्यता को कोई विशेष महत्त्व नहीं था, न विधि-निषेध का ही विचार करना आवश्यक था। इसके सदस्यों के लिए राधा न केवल इष्टदेवी थीं, किन्तु उनके गुरुरूप में भी प्रतिष्ठित थीं और उन्हीं के माध्यम से श्रीकृष्ण भी उपास्य बने थे। ये स्वकीया थीं और दोनों की विहार-लीलाएँ नित्य एवं शाश्वत मानी जाती थीं। यहाँ न तो चैतन्य संप्रदाय के जैसे परकीयापन को कोई स्थान था न उसमें महत्त्व दिये जाने वाले विरहभाव का ही प्राधान्य रहा। इसके सिवाय जहाँ श्री स्वामी हरिदास जी के सखी संप्रदाय में अधिकतर विरक्ति-भाव को स्वीकृत कर लिया जाता था। निम्बार्क संप्रदाय के अनुयायियों तथा अन्य वैसे भक्तों के यहाँ भी प्रायः उसी को प्राधान्य दिया जाता था। वहाँ राधावल्लभ संप्रदाय में कोई ऐसी बात नहीं पायी

---

१. आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगल मंत्र कौ जाप॥
जुगल मंत्र कौ जाप, वेद रसिकन की बानी।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महरानी॥ आदि, बानी
(श्री भगवत रसिक)

जाती थी और उसकी उपासना गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी निभा ली जा सकती थी। फिर भी रामोपासकों का रसिक संप्रदाय न तो इसका ठीक अनुसरण करता है, न निम्बार्क एवं हरिदासी संप्रदायों का ही यह संप्रदाय 'युगल किशोर' की उपासना करता हुआ भी उसे वस्तुतः 'युगल सरकार' के रूप में स्वीकार करता है। इसका वह उपास्यदेव स्वच्छन्द विहार-लीला प्रेमी नहीं, न यहाँ किसी परकीयापन के भाव को कभी स्वप्न में भी प्रश्रय दिया जा सकता है। श्रीराम आदर्श एकपत्नीव्रत के व्रती हैं और मर्यादा पुरुषोत्तम भी कहलाकर प्रसिद्ध हैं। तदनुसार यहाँ उनकी पत्नी श्रीसीता को वह स्थान स्वभावतः नहीं दिया जा सकता जो राधावल्लभी लोगों के यहाँ श्रीराधा के लिए सुरक्षित है इसी प्रकार, यहाँ पर विधि-निषेधादि के प्रति वह उपेक्षा भी नहीं प्रदर्शित की जा सकती। परंतु जहाँ तक सहचरिपरक व्यवहार एवं मधुरोपासना तक का भी प्रश्न है इन रसिकोपासकों ने उसमें अपने निराले ढंग के कारण, किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी है।

इसमें सन्देह नहीं कि रामोपासकों ने उपर्युक्त मनोवृत्तियों को मूलतः श्रीकृष्णोपासकों के कदाचित् अनुकरण में ही अपनाया होगा। ये लोग अपने आराध्यदेव को अधिकतर मर्यादाशील तथा बहुत गम्भीर भी मानते आ रहे थे। जिन किन्हीं भी लीलाओं का आरोप ये उनके सम्बंध में कर सकते थे वे दुष्टों के संहार एवं धर्मरक्षा जैसी बातों के ही साथ सम्बद्ध हो सकती थीं। अतएव, जिस समय इन्होंने सखीभाव अथवा पत्नीभाव की प्रेरणा से श्रीराम के युगल रूप वा युगल सरकार की ओर ध्यान देना स्वीकार किया तथा ये उनकी ऐसी लीलाओं का भी चिन्तन करने लगे, उस समय इन्हें कुछ न कुछ संकोच का भी अनुभव हुआ। तदनुसार इसके मार्ग-प्रदर्शक उपासकों ने इसे पहले पहल 'रहस्यमयी' अथवा 'गोप्य' लीलाओं को प्रकट करने का यत्न मात्र ही ठहराया। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही हो सकता था कि श्रीरामावतार को मर्यादापुरुषोत्तमादि विशेषण देने वाले लोग उनके प्रति इस प्रकार की गई बातों को ही कहीं स्वभाव विरुद्ध

न मान बैठें, प्रत्युत इन्हें उनकी कतिपय गोपनीय चेष्टाओं के रूप में स्वीकार कर लें। रामोपासक भक्त नाभादास ने इसीलिए भक्त मानदास के सम्बंध में लिखते समय बतलाया है कि "उन्होंने करुणा, वीर, श्रृंगार आदि उज्ज्वल रसों से पूरित काव्य की रचना की जो कविजनों के लिए भी मनभावना था। उन्होंने कोशलेश भगवान श्रीरामचन्द्र के पदकमल के प्रति दास्य-भाव का व्रत भी स्वीकार किया। वे निरन्तर जानकीजीवन के सुयशगान में लगे रहा करते थे। परन्तु इसके साथ ही 'रामायन नाटक' की रचना द्वारा उन्होंने भाषा के अन्तर्गत रहस्यमयी बातों का भी समावेश कर दिया। इस प्रकार उन्होंने भगवान रामचन्द्र की उन गोपनीय केलियों का भी उद्घाटन किया जो उनके समय तक संभवतः अविदित ही रह चुकी थीं।"[1] और इस कारण उन्होंने इन्हें इस संप्रदाय का एक मार्ग-प्रदर्शक भी माना है।

परंतु, वास्तव में इस रामोपासक संप्रदाय के सर्वप्रथम विशिष्ट आचार्य वा 'मतप्रवर्त्तक' भक्त अग्रदास ही माने जाते हैं जो उक्त नाभादास के गुरु भी थे। भक्त अग्रदास ने भी अपनी 'ध्यानमंजरी' नामक रचना के अन्तर्गत यही कहा है कि "मैंने इस रहस्यमयी बात को रसिकजनों के हितार्थ ही प्रकाशित की है।"[2] 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के रचयिता महंथ जीवाराम 'युगल-प्रिया' ने तो

---

१. गोप्य केलि रघुनाथ की मानदास परगट करी ॥
करुणा वीर सिंगार उज्वल रस गायो।
पर उपकारक धीर कवित कविजन मन भायो ॥
कौसलेस पद कमल अननि दासत व्रत लीनौ।
जानकी जीवन सुजस रहत निसि दिन रंग भीनौ ॥
रामायन नाटक की रहसि उक्ति जुक्ति भाषा घरी।
गोप्यकेलि रघुनाथ की मानदास परगट करी ॥छप्पय,७७५ ॥

२. रसिक जनन हितकरन रहसि यह ताहि प्रकासी—ध्यानमंजरी, प० २४।

यह भी कहा है कि अग्रदास के गुरुभाई कील्ह जी मूलतः योगी होते हुए भी 'रास विहार रत' रहा करते थे। इन दोनों के गुरु कृष्ण-दास पयोहारी तक ने योग एवं शृंगार का समन्वय किया था। इन्हें अष्ट-यामी सेवाभाव का प्रचारक भी कहा गया है। इसके सिवाय इस 'भक्त माल' ग्रंथ के अनुसार यहाँ तक पता चलता है कि श्रीकृष्णदास पयोहारी के गुरु अनंतानंद भी 'जनक लली के कृपारास रस' से पूर्ण रहा करते थे तथा उनके भी गुरु प्रसिद्ध स्वामी रामानन्द तक 'रसिक रीति' के ही उपासक थे। वहाँ पर इतना और भी बतलाया गया है कि, वास्तव में, स्वामी रामानंद के दादा गुरु श्री हर्यानंद के ही 'सदाचार' में 'रसिकता' वर्तमान थी। उन्होंने इसी कारण, अपने प्रिय शिष्य राघवानंद को इस विषय में इतना प्रभावित किया कि इन्होंने शंकर भगवान को प्रसन्न कर उनकी सहायता से हनुमान जी के साथ अपना सम्बंध जोड़ा। फिर उन्हीं की आज्ञा से इन्होंने 'रसिक संप्रदाय' का प्रवर्त्तन भी किया। इस प्रकार, यदि इस ग्रंथ को प्रमाण माना जाय, तो रसिक संप्रदाय की स्थापना की मूल प्रेरणा स्वयं श्री हर्यानन्द में ही निहित थी जो श्री अग्रदास के और भी पाँच पीढ़ी पूर्व के रामोपासक भक्त रह चुके थे। परंतु इस कथन के लिए कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

अन्य प्रमाणों के आधार पर केवल इतना ही पता चलता है कि रामा-वतार के विषय में प्रचलित उनके उदात्त चरित की विशद भावना ने उन्हें क्रमशः एक साधारण राजपुरुष से लेकर पुरुषोत्तम तथा अंत में स्वयं पर-मात्मतत्त्व तक पहुँचा दिया था। यदि उनका सम्मान कभी एक विशिष्ट महापुरुष के रूप में हुआ था तो वह क्रमशः फिर उनकी भक्ति के रूप में भी परिणत हो गया था। 'वाल्मीकि रामायण' के एकाध प्रसंगों के आधार पर यह कहा जाता है कि श्रीरामचन्द्र के लंका विजय के अनन्तर अयोध्या लौटते समय उनके साथ रावण के भाई विभीषण भी आये थे। इन्होंने फिर वहाँ से लंका वापस जाते समय अपने साथ उनके कुलदेव श्री रंगनाथ की मूर्ति अपनी आराधना के लिए ले जाने का आग्रह किया

और उसे अपने विमान से ले भी चले। किन्तु कुछ कारणवश वह मूर्ति कावेरी नदी की दो धाराओं के मध्यस्थल से आगे नहीं ले जाई जा सकी और वह वहीं दक्षिणाभिमुख स्थापित कर दी गई।[१] तदनुसार दक्षिण भारत में ही पीछे सर्वप्रथम श्रीराम की भक्ति का भी विशेष प्रचार हुआ और वह उत्तर की ओर कुछ पीछे आ सकी। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर भी पता चलता है कि रामभक्ति का स्पष्ट प्रचार पहले दक्षिण के आलवारों में ही दीख पड़ा था जिनका समय लगभग ९वीं शताब्दी से लेकर १२वीं के आरम्भ तक समझा जाता है। ये आलवार अधिकतर श्रीरंग के ही उपासक थे और इनमें से कम से कम शठकोप की रामभक्ति कभी-कभी माधुर्यभाव की कोटि तक भी पहुँच जाती थी। इसी प्रकार एक अन्य आलवार भक्त कुलशेखर के लिए भी कहा गया है कि वे राम की भक्ति में प्रायः आवेशपूर्ण भी हो जाया करते थे[२] तथा उनके लिए यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने आराध्य की ही प्रेरणा से अपनी किसी पुत्री का विवाह श्री रंगदेव की मूर्ति के साथ कर दिया था।[३] इसी प्रकार आलवारों के अतिरिक्त उधर के कतिपय वैष्णवाचार्यों के लिए भी कहा जाता है कि वे रामोपासना को महत्त्व देते थे। इसके सिवाय माध्व संप्रदाय प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य के लिए भी प्रसिद्ध है कि वे स्वयं हनुमान के अवतार थे। उत्तर से दक्षिण की ओर दिग्विजय करके लौटते समय वे श्रीराम की एक मूर्ति बदरिकाश्रम से अपने यहाँ ले गये थे जिसका समय भी लगभग सन् १२६४ ई० बतलाया गया है।[४]

फिर भी, जैसा पूर्वकथित अनेक प्रसंगों द्वारा भी स्पष्ट है, रामोपासना का माधुर्यभावपरक रूप अधिकतर अपवाद ही समझा जा सकता

---

१. कल्याण तीर्थांक (गीताप्रेस, गोरखपुर), पृ० ३७२

२. नाभादास की भक्तमाल पर श्री प्रियादास की टीका।

३. 'प्रपन्नामृत', पृ० २८५

४. **Dr. Sudhendu Kumar Das : Sakti or Divine Power,**

था । स्वयं 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के रचयिता तक का कहना है कि शठकोप नामक आलवार ने भी जो माधुर्यभाव प्रदर्शित किया वह 'कलि की कुचाल' को देखते हुए केवल 'मौन वृत्ति' के ही साथ किया गया था।[1] हाँ, यदि श्रीरंगदेव तथा श्रीराम को एक ही मान लें तो अवश्य कहा जा सकता है कि उनके प्रति की गई कम से कम गोदा नामक स्त्री आलवार की भक्ति पूर्णतः माधुर्यभावपरक थी । गोदा ने श्रीरंगदेव को सदा अपने पति के रूप में ही स्वीकार किया और वह पीछे आनेवाली श्रीकृष्ण भक्त मीराँ की भाँति प्रसिद्ध हो गई । यहाँ पर एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि वैष्णवाचार्यों में से लोकाचार्य एवं बरवर मुनि ने भी अपनी राम-भक्ति-परक भावना में श्रीसीता के प्रति अपनी विशिष्ट श्रद्धा को स्थान दिया । उन्हें उन्होंने अपने जैसे भक्तों की 'दयाविनी माता' के रूप में स्वीकार किया । इनका सिद्धांत था कि भगवान रामचन्द्र यदि अपराधियों को दंड देते हैं तो वे प्रायः निर्मम हो जाते हैं, किन्तु मातृहृदया श्री सीता कभी ऐसा नहीं कर सकतीं । वे इसी कारण, अपने शरणागत भक्तों को लाख अपराध करने पर भी उनसे क्षमा करा दिया करती हैं। श्रीसीता की ओर विशेष ध्यान देने की यह भावना पीछे श्री रामानंद के अनुयायियों में भी दीख पड़ती है । गोस्वामी तुलसीदास का "कबहुंक अंब अवसर पाइ" से आरंभ होने वाला 'विनय' का पद इसी भावना का द्योतक है । लोकाचार्य ने श्री सीता के इस स्वभाव को 'पुरुषकारता' वा 'पुरुषकारत्व' का नाम दिया था जिसका तात्पर्य यह था कि वे अपने भक्तों को दुःखी नहीं देख सकतीं, वे शीघ्र दयार्द्र बन जाती हैं । फिर उनके अपराधों को क्षमा कराने के उद्देश्य से, वे अपने पति श्रीरामचंद्र को अपनी ओर किसी न किसी प्रकार आकृष्ट करती हैं । अंत में कोई अनुकूल अवसर देख उनसे इन्हें क्षमा कर देने का प्रस्ताव भी कर बैठती हैं । श्रीसीता के इस पुरुषकारत्व की ओर स्वामी रामानंद द्वारा भी

---

१. **प्रथम ही शठकोप आदि पारषद आये,**
कलि की कुचाल देखि मौन वृत्ति लाये हैं ।—पृ० १२

कुछ संकेत किया गया जान पड़ता है जैसा कि उनकी रचना 'वैष्णव मताब्ज भास्कर' द्वारा भी स्पष्ट है। परंतु, फिर भी रामोपासना के अन्तर्गत माधुर्यभाव अथवा विशेषतः रसिकभाव की अवतारणा स्पष्ट रूप में, सर्वप्रथम श्री अग्रदास ही द्वारा की गई प्रमाणित होती है।

पाँच

स्वामी अग्रदास के जीवन-काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किन्तु अनुमान किया जाता है कि ये सं० १६३२ के आसपास विद्यमान थे। इनका जन्म राजस्थान के किसी गाँव में हुआ था और ये अपने बाल्यकाल में ही श्रीकृष्णदास पयोहारी के प्रभाव में आ गए थे। ये कुछ दिनों तक गलता में रहे और अपने गुरु का देहांत हो जाने पर इन्होंने जयपुर के ही निकट रैवासा नामक स्थान में अपने संप्रदाय की गद्दी स्थापित की। इनके शिष्य-प्रशिष्यों में नाभादास, देवमुरारि, दिवाकर आदि अधिक प्रसिद्ध हैं और कहते हैं कि वैष्णवों के ५२ द्वारों में से ११ सीधे इन्हीं से प्रभावित हैं। इनका नाम 'अग्रदास' के अतिरिक्त 'अग्रअली' और 'अग्रसहचरी' भी पाया जाता है। इन्हें सीताजी की प्रियसखी चंद्रकला का अवतार भी माना गया है। वास्तव में 'अली', 'सहचरी', 'सखी', 'कला', 'मंजरी' एवं 'लता' जैसी छापों का इनके अनुयायियों में बहुत अधिक प्रचार है। ये उनके अपने इष्ट के अन्तरंग होने तथा उसकी परिचर्या में निरन्तर लगे रहने की ओर संकेत करती हैं। स्वामी अग्रदास जी रसिकोपासना के प्रवर्त्तक एवं प्रबल समर्थक थे। वे अपने 'युगल सरकार' श्री सीताराम के नित्य विहार के चिंतन में सदा लीन रहा करते थे। वे अपने इष्टदेव की ही विहारस्थली के रूप में बाग-बगीचों के प्रति भी प्रेम रखते थे और वाटिकाओं का निर्माण भी करते थे। इसके अनुकरण में आज तक भी उनके अनुयायियों में मंदिरों के आसपास विविध कुंजों, निकुंजों, वनों, वाटिकाओं जैसे नामों से फुलवारियों का लगाना आवश्यक समझा जाता है। स्वामी अग्रदास की रचनाओं में उनकी 'ध्यान मंजरी',

'कुंडलिया', 'पदावली' और 'शृंगार रस सागर' के नाम लिये जाते हैं और इनका संस्कृत भाषा का एक ग्रंथ अष्टयाम भी है। इनकी रचनाओं में अधिकतर अपने इष्टदेव के सौन्दर्य, उनके विहार, उनके प्रति अपनी रसिकोपासना आदि जैसे विषयों की ही प्रचुरता है। उनके प्रति इनकी प्रगाढ़ भक्ति और उसके वास्तविक स्वरूप का कुछ पता इनकी इस रचना द्वारा चल सकता है--

सहज चलौंगी आपनी, अनखि मरैंगे लोग।
अनखि मरैंगे लोग, वेद कुल कानि न करिहौं।
भली बुरी सिर धारि, आनन मारग अनुसरिहौं॥
देव पितर विधि अविधि, लोक परलोक न सूसो।
सरबसु सीताराम, कोऊ रूसो कोउ तूसो॥
'अग्र' सुमति पथ हरि वरौं, करिहौं दृढ़ संयोग।
सहज चलौंगी आपनी, अनखि मरैंगे लोग॥[1]

स्वामी अग्रदास के शिष्यों में उनके अनन्तर प्रसिद्ध भक्त नाभादास का नाम लिया जा सकता है। इनका मूल नाम कदाचित् नारायणदास था, किन्तु पीछे ये नाभादास वा 'नाभा अली' कहलाकर भी बहुत प्रसिद्ध हुए। कहते हैं कि इनका जन्म कहीं दक्षिण में हुआ था और ये अंधे भी थे, किन्तु किसी भीषण अकाल के कारण, इनकी माता इन्हें लेकर जयपुर की ओर चली आई और इन्हें कहीं पर जंगल में छोड़ गई। जहाँ संयोगवश पहुँचे हुए स्वामी अग्रदास तथा उनके गुरुभाई कील्हदास ने इन पर दया दिखलायी और इन्हें दृष्टिदान भी दे दिया। वहाँ से इन्हें प्रायः पाँच वर्ष की अवस्था में, स्वामी अग्रदास गलता लाये और इनका वहीं पालन-पोषण भी किया। इनके बड़ होने पर फिर उन्होंने इन्हें मंत्रदीक्षा भी दी और इनका नाम 'नारायणदास' रखा जो पीछे नाभादास के रूप में अधिक प्रचलित हुआ। स्वामी अग्रदास के साथ ये फिर रैवासा आये और गुरु-सेवा में निरत रहते हुए तथा अंत में उनकी गद्दी के आचार्य

१. अग्रदास कृत कुंडलिया, पृ० १६।

भी बने । इन्हें कुछ लोग दक्षिणी ब्राह्मण कहते हैं और दूसरे इन्हें किसी 'डोम' नामक जाति का भी बतलाते हैं जो भाटों अथवा कथिकों जैसी संगीत-जीवियों की थी । इनकी प्रसिद्ध रचना 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास ने तो इन्हें लांगूली अथवा हनुमानवंशी माना है जो शैव योगियों जैसा प्रतीत होता है । 'भक्तमाल' के अतिरिक्त इनकी दो अन्य रचनाएँ 'अष्टयाम' नाम से भी मिलती हैं जिनमें से एक पद्य में तथा दूसरी गद्य में है । इनकी 'भक्तमाल' के अन्तर्गत अनेक भक्तों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, किन्तु इनकी पद्यमयी रचना 'अष्टयाम' का विषय निम्न प्रकार का है––

अंतःपुर की गली सुहाई । तेहि मग बहु ललना चलि आई ।
प्रभु रुख लखि सिय बैठी संग ही । निज निज परिकर युत सुख रंग ही ।।
अग्रभाग सुभगा अति सोहैं । सहजा हास विलासनि मोहैं ।
श्री सरयू झारी लिये ठाढ़ी । पानदान सुख तुलसी बाढ़ी ।।
कमला विमला चंवर ढुरावैं । चंद्रकला कछु गान सुनावैं ।
और सबै निज टहल सुधारैं । ठाढ़ी दंपति निकट संवारैं ।।इ०।।[1]

नाभादास जी के भी जीवनकाल की निश्चित तिथियाँ विदित नहीं, किन्तु इनकी 'भक्तमाल' का रचनाकाल सं० १६४२ प्रसिद्ध है ।

स्वामी अग्रदास की परंपरा की पाँचवीं पीढ़ी में बालकृष्ण नायक हुए जो पीछे 'बालअली' के नाम से प्रसिद्ध हुए । ये पहले रामानुजाचार्य के संप्रदाय में दीक्षित रहे, किन्तु वहाँ के आचारी वर्ग की सदाचार-पद्धति में इनका जी नहीं लगा और ये रसिक संप्रदाय में आ गए । कहते हैं कि इसके लिए इन्हें स्वप्न में स्वयं अग्रदास जी द्वारा भी संकेत मिला था । फिर इनकी भक्ति पर मुग्ध होकर श्रीसीताजी ने ही इन्हें अपनी सखियों में सम्मिलित कर लिया था और ये तब से 'बालअली' बन गए । चरणदास के अनन्तर ये रैवासा गद्दी के आचार्य भी हुए । ये सं० १७३५ के लगभग वर्त्तमान समझे जाते हैं और इन्हीं के शिष्य 'रूप सखी' द्वारा

१. नाभादास : अष्टयाम, पृ० ३७-८

सखीभाव की परंपरा का वृहद् रूप में प्रतिष्ठित किया जाना भी प्रसिद्ध है। 'रूप सखी' ने सीता की सखियों की संख्या ७०० तक बढ़ा दी और उनके अनेक भेद भी कर डाले। 'बालअली' जी की आठ रचनाएँ बतलायी जाती हैं जिनसे पता चलता है कि इनका ध्यान अधिकतर अपनी इष्टदेवी श्रीसीता जी के दैनिक जीवन तथा उनके सौन्दर्यादि के वर्णन की ओर ही रहा करता था और ये अपने को उनकी अंतरंग सखियों में प्रदर्शित करने के लिए सदा उत्सुक रहा करते थे। इनकी कुछ रचनाएँ इस प्रकार हैं--

सुनि सिय चरित सुमुखि मन हरष्यो। उर आनंद जलद ज्यों बरष्यौ।
सिय पद प्रेम बढ़ै नित वाकैं। और न सुधि आवै उर ताकैं॥
निज स्वीकरि स्वामिनि सुखखानी। जानकि जानरु जानकि जानी॥
किंकरि रूप अपनपौ फुरै। जग सम्बंध हिय न संचरै॥इ०॥[1]

परंतु रसिकोपासना की यह पद्धति स्वामी अग्रदास की रैवासा गद्दी तक ही सीमित न रह सकी। उनके गुरु भाई कील्हदास की मूल गद्दी गलता के आचार्य भी उसके प्रभाव द्वारा प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके तथा उन्होंने तद्विषयक महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना की। इनमें उस काल के सबसे प्रसिद्ध महापुरुष 'मधुराचार्य' समझे जाते हैं जो कील्ह स्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में गलता गद्दी पर आसीन हुए थे। इनका पूर्व-नाम रामप्रपन्न था। इन्होंने वेदादि के गंभीर अध्ययन द्वारा रसिको-पासना की प्राचीनता सिद्ध करने का भी यत्न किया था। कहते हैं कि इन्होंने द्वादश वार्षिक रास की योजना करके भी रामलीलादि का प्रचार किया और अपने संप्रदाय को लोकप्रिय बनाया। इन्होंने जयपुर के महा-राजा राम सिंह के साथ कुछ मतभेद हो जाने पर अपनी गलता की गद्दी का परित्याग कर दिया और ये चित्रकूट चले आए। इनकी हिन्दी रचनाओं से कहीं अधिक इनकी संस्कृत रचनाएँ ही प्रसिद्ध हैं। उनमें से कुछ रसिक संप्रदाय के लिए प्रमाण ग्रंथ भी मानी जाती हैं। इनका 'भगवद्-गुण दर्पण' ग्रंथ छह संदर्भों में विभक्त बतलाया जाता है। उसी के

---

१. **सिद्धांत तत्व दीपिका, पृ० १६१।**

एक संदर्भ का नाम 'सुन्दर मणि संदर्भ' है जिसमें माधुर्यमयी भक्ति की बड़ी सुंदर व्याख्या की गई है। उसके समर्थन में 'वाल्मीकि रामायण' जैसे ग्रंथ से भी पूरी सहायता ली गई है। मधुराचार्य की हिन्दी-रचनाओं में उनका एक उपनाम 'मधुरप्रिया' अथवा 'मधुरप्रीतम' भी मिलता है। इनका एक हिन्दी पद इस प्रकार है--

> **सखि मैं आजु गई, सिय कुंज।**
> **देखि नृपति किसोर दौरे, घेरि पचका पुंज।।**
> **तब कही मैं सुनहु लालन, लाल कौसल चंद।**
> **फाग मिस का करहु चोरी, चलहु हमरे संग।**
> **'मधुर प्रीतम' आजु तुमकौं, जीतिहौं रतिरंग।।**[1]

मधुराचार्य का समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। मधुराचार्य के ही एक शिष्य हर्याचार्य थे जो पीछे गलता गद्दी के भी आचार्य हुए। इनका सांप्रदायिक उपनाम 'हरिसहचरी' था। ये भी पहले अपने गुरु के चित्रकूट आ जाने पर उनके साथ चले आए थे, किन्तु उन्हीं की आज्ञा से फिर उक्त गद्दी पर भी आसीन हुए। इन्हें भी अपने गुरु की भाँति रासलीलादि से विशेष प्रेम था। ये उन्हीं के अनुसरण में संस्कृत रचनाएँ भी प्रस्तुत करते थे। इनकी संस्कृत कविताएँ बहुत ही सरस हैं और इनके 'जानकी गीत' की कुछ पंक्तियों में 'गीतगोविन्द' जैसा माधुर्य दीख पड़ता था।

गलता गद्दी से ही सम्बद्ध सूर किशोर जी भी थे जो कील्ह स्वामी के पौत्र शिष्य कहे जाते हैं और जिन्होंने मधुराचार्य के गलता छोड़ देने पर स्वयं भी वहाँ से टल जाना स्वीकार किया। इन्होंने चित्रकूट, अवध एवं मिथिला में रहकर बहुत दिनों तक अपनी रसिकोपासना का परिचय दिया। इनका समय १८वीं शताब्दी का प्रथम चरण था। ये महाराजा जनक को अपना भाई समझते थे जिस कारण जानकी के प्रति इनकी निष्ठा वात्सल्यभाव की रही। जानकी को ये 'लली' कहा करते थे और

---

१. पदावली, पृ० ११०।

उनकी एक मूर्ति भी सदा अपने साथ लिये फिरते थे तथा उसके लिए सुन्दर-सुन्दर खिलौने और मिठाइयाँ भी एकत्र करते रहते थे। जब कभी ये अयोध्या जाते तो उसे अपनी प्रिय पुत्री की ससुराल समझकर इन्हें वहाँ का अन्न जल भी ग्रहण करते संकोच होता। अपने इस भाव के प्रति ये इतने दृढ़ थे कि श्रीराम के लिए इष्टदेव की भावना रखते हुए भी उनसे अपने दामाद के नाते इन्होंने कुछ भी माँगना सदा अनुचित हीं माना। इस सम्बंध में स्वयं उन्हीं ने अपनी 'मिथिला माहात्म्य' नामक रचना के अन्तर्गत कहा है--

निबही तिहुँ लोक में सूर किशोर, बिजै रन में निमि के कुल की।
जस जाइ रह्यौ सत दीप लुकान, कथा कमनीय रसातल की।।
मिथिला बसि राम सहाय चहै, तो उपासक कौन कहै भल की।
जिनके कुल बीच सपूत नहीं, करैं आस दमादन के बल की।।६।।[1]

इनकी ऐसी प्रायः सभी रचनाएँ फुटकल रूपों में ही मिलती हैं और बहुत सरस हैं। इनके 'मिथिला विलास' ग्रंथ की एक रचना इस प्रकार की है--

नृप के गृह बाल बिहार करैं, सिय की पदरेनु जहाँ लहिये।
मुनि वृन्द उपासक राम विवाह, सोई निज ठौर हिये गहिये।।
कह सूर किशोर विचार यही, हिम आतप वो बरषो सहिये।
चिउरो चबिकै फलवो भखिकै, मिथिला मँह बाँधि कुटी रहिये।।[2]

इन सूर किशोर जी के ही एक शिष्य प्रयागदास थे जो उक्त नाते के अनुसार अपने को जानकी जी का छोटा भाई समझा करते थे। ये वात्सल्यभाव की जगह सख्यभाव के उपासक थे और अन्य रामभक्तों को सखा भी कहा करते थे। अयोध्या वाले भक्तों को तो ये अपने 'बहनोई' श्रीराम के नाते कभी-कभी विनोदवश गाली भी दे दिया करते थे और स्वयं 'मामा प्रयागदास' कहलाकर प्रसिद्ध थे। ये मूलनिवासी कहाँ के थे इसका पता नहीं, किन्तु अवध, मिथिला, चित्रकूट और प्रयाग

---

१. मिथिला माहात्म्य, छंद संख्या ६
२. मिथिला विलास, पृ० १८

जैसे पुण्य-स्थलों में ये विशेष रूप से घूमते रहते थे। ये बहुत दिनों तक मिथिला के गाँवों में बालकों के साथ उनके सखा के रूप में खेलते रहे। बड़े हो जाने पर जब इन्हें एक बार सूर किशोर जी ने अपनी 'पुत्री' जानकी जी का समाचार लाने के लिए अयोध्या भेजा तो ये वहाँ मिट्टी का 'करवा' और 'चिउरा मिठाई' लेकर पहुँचे। कनक भवन में जाकर इन्होंने ये वस्तुएँ अपनी 'बहन' जानकी जी को समर्पित कर दीं तथा उनसे फिर 'करवा' लौटाकर उसे ले किसी नीम के नीचे बैठ गए। ये वहाँ पर कुछ दिनों तक निवास करते रहे और फिर अपने गुरु की स्मृति ने ही इन्हें वहाँ से मिथिला लौटने के लिए प्रेरित किया। इनके नीम तले रहने के विषय में, कदाचित् इन्हीं के द्वारा कही गई नीचे की दो पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं--

नीम के नीचे खाट पड़ी है, खाट के नीचे करवा।
'परागदास' अलबेला सोवैं, रामलला के सरवा ॥

इन्हीं की कदाचित् निम्नलिखित चार पंक्तियाँ भी हैं जो जनसाधारण में भी प्रचलित पायी जाती हैं--

प्राग दास जो पीपर होते, राघो होते भुतवा रे।
आठ पहर छाती पर रहते, वे दसरथ के पुतवा रे ॥
धनि धनि केसवा कहे महेसवा, पार न पावै सेसवा रे।
प्रागदास पहलदवा कारन, रघवा होइगे बघवा रे ॥

जिस समय ये त्रिवेणी संगम पर ठहरे थे, उस समय एक दिन किसी कथावाचक ने प्रसंगवश कह दिया कि वनगमन के अवसर पर श्रीराम ने अयोध्या से जाते समय कोई जूता नहीं पहना और वे इनकी 'बहन' सीता और उनके देवर लक्ष्मण के साथ नंगे पैर चल दिए। इस कथन का प्रभाव इनके कोमल हृदय पर इतना अधिक पड़ा कि ये किसी प्रेमी मित्र से तीन जोड़े जूते और चारपाई खरीदकर उन्हें शिर पर ले उन वनवासियों की टोह में चित्रकूट की ओर चल पड़े और पंचवटी तक पहुंचे, जहाँ अंत में, उनसे इनकी भेंट हो गई। यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने

वहाँ पर उन्हें अपने हाथों से जूते पहनाये तथा उन्हें चारपाई पर बिठाया। ये पक्के विरक्त और अपरिग्रही व्यक्ति थे और इन्हें वैरागियों के मेले-ठेले आदि से जिन्हें ये 'परपंच' का नाम देते थे बड़ी घृणा रहा करती थी। ये उनमें नहीं जाते थे और कहते थे—

मुड़ियों ने परपंच रचा है, हमैं काम का मेलों में।
'प्रागदास' रघुवर को लैके, पड़े रहेंगे ढेलों में॥

मामा प्रयागदास की ही भाँति रामप्रियाशरण अथवा 'प्रेमकली' जी भी सीता जी को अपनी बहन माना करते थे। परन्तु ये संभवतः मिथिला के ही निवासी भी थे और जिस 'नेहकली' जी से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी वे भी उस प्रदेश के ही रहने वाले कहे जाते हैं। इन्होंने 'रामायण' के आदर्श पर एक 'सीतायण' नाम का प्रबंध काव्य लिखा है जो अभी तक प्रकाशित नहीं है। इस विशाल ग्रंथ का रचना-काल सं० १७६० कहा जाता है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत जानकी जी के केवल बाल एवं विहार सम्बंधी लीलाओं का ही वर्णन पाया जाता है। लगभग इसी विषय को लेकर श्री रामस्नेहिदास जी ने भी अभी कुछ ही दिन पूर्व सं० २०१४ में 'श्री जानकी चरितामृतम्' ग्रंथ की रचना की है जो संस्कृत श्लोकों में है और उनका अनुवाद भी स्वयं कवि ने ही हिन्दी भाषा में कर दिया है। 'सीतायन' सात काण्डों में विभक्त है जिनमें से 'मधुर माल काण्ड' की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

छबीली जनक ललिन की जोरी।
करि सिंगार निरखति नैनन भरि, जननि सकल तृन तोरी।
छम छम चलति अरति पुनि दौरति, मणि प्रतिबिंब गहोरी॥
पुनि तेहिते बतलाति बात मृदु, भई जिमि चंद चकोरी।
हँसति हँसावति अति मन भावति, कढ़ि छवि सिंधु हलोरी॥
यहि विधि बाल विनोद करति सब, हँसति परस्पर टकन टकोरी।
प्रियाशरण अलबेलिन की छवि, लखि शत रती लजोरी॥[1]

१. पृ० ४१

मिथिला में ही रहकर दीक्षित होने वाले एक अन्य रसिक भक्त कृपानिवास भी थे जो १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वर्त्तमान थे। कहते हैं कि ये किसी द्रविड़ प्रांत के मूल निवासी थे और वहाँ के श्रीरंगजी के उपासक भी थे। किन्तु केवल १५ वर्ष की अवस्था में ही ये उधर से चलकर मिथिला पहुँचे और यहाँ पर इन्होंने पुनः रसिकोपासना की दीक्षा ली। इन्होंने चारों धाम की यात्रा की थी और उज्जैन, वृन्दावन, हरद्वार आदि भी होते हुए अंत में, चित्रकूट में ठहर गए थे। ये सखीभाव के उपासक थे। कहते हैं कि जब ये उज्जैन में थे तब इनके यहाँ आकर प्रसिद्ध महादजी सिंधिया ने इनसे शिष्यत्व ग्रहण किया था। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है। ये रसिक संप्रदाय के आचार्यों में भी गिने जाते हैं तथा इन्होंने सीता के साथ आये हुए बालकों का भी भाव रखा है। इनके ऊपर अग्रदास जी द्वारा मूल रूप में प्रवर्त्तित रैवासा की परंपरा का प्रभाव अधिक अंश में लक्षित होता है। इनकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

बनि ठनि आज नागरि नवजोवन नवला रस छाये।
सावन तीज मनावन निकसी, मनभावन पिय नैन सिराये॥
चहुँ दिसि लोचन चपल चलत जनु, खंजन अंजन मदके प्याये।
कृपानिवास राम पटरानी, रस दामिनि हँसि रस बरसाये॥[1]

सख्यभाव के प्रमुख प्रचारकों में रामसखे जी का भी नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। कहते हैं कि इनका जन्म जयपुर के अन्तर्गत हुआ था। वहाँ से ये कुछ कालोपरान्त मैहर गये, किन्तु दूसरे लोगों ने इन्हें मैहर का ही निवासी भी बतलाया है। प्रसिद्ध है कि कुछ बड़े होने पर ये घूमते हुए माध्व संप्रदाय के प्रमुख केन्द्र उडुपी पहुँचे थे और वहीं पर इन्होंने दीक्षा भी ले ली थी। किन्तु जब ये वहाँ से अयोध्या एवं चित्रकूट जैसे तीर्थों की ओर आये तो इन पर रसिक भाव का प्रभाव पड़ गया। इस प्रकार की मनोवृत्ति इन्हें, वस्तुतः गलता गद्दी द्वारा प्रभावित होने

१. झूलन संग्रहावली, पृ० १८

पर, कदाचित् इसके कुछ पहले ही उपलब्ध हो चुकी थी। चित्रकूट में कुछ दिनों तक रहने लगने पर उनमें विशेष दृढ़ता आ गई तथा इन्होंने वहाँ पर कई बार रासलीलाओं का भी आयोजन किया। फिर तो ये सदा, मैहर में जाकर वहाँ की गद्दी पर बने रहे और वहाँ के पेशवाओं के प्रबंधक रूपसिंह को इन्होंने अपना शिष्य भी बना लिया। रामसखे जी की एक दूसरी गद्दी का अयोध्या के 'नित्यराघवकुंज' में होना भी बतलाया जाता है। रामसखे जी के लिए कहा गया है कि ये श्रीरामचन्द्र के उन सखाओं में हैं जिन्हें 'नर्मसखा' अथवा उनके साथ हास-परिहास भी करनेवाला कहा जा सकता है। दिन के समय तो ये उनके साथ आखेट, जलविहार आदि क्रीड़ाओं में भाग लिया करते थे और रात के समय सीताराम की दम्पति की रासलीलादि में कैंकर्य भाव ग्रहण करते थे। इनका कहना था कि राम का मधुर चरित वही कह सकता है जिसमें सखी एवं सखा नामक दोनों भावों में मग्न होने की क्षमता हो, जैसे--

सखी सखा द्वै भाव जु राखै।
मधुरे चरित राम के भाखै॥[1]

चित्रकूट में रहते समय एक बार जब इन्हें श्रीराम के विरह का अनुभव हुआ तो इन्होंने यह दोहा कहा था--

अरे सिकारी निर्दई, करिया नृपति किसोर।
क्यों तरसावत दरस को, रामसखे चितचोर॥[2]

फिर इसी प्रकार उनके साथ मिलन का अवसर आ जाने पर इन्होंने यह भी कहा था---

अवधपुरी से आइके, चित्रकूट की ओर।
रामसखे मन हरि लियो, सुन्दर जुगुल किसोर॥[3]

इनकी रचनाओं में से कम से कम १० के नाम लिये जाते हैं और इनके

---

१. नृत्यराघव मिलन, कवितावली, पृ० ११७
२. संप्रदाय भास्कर, पृ० ५   ३. वही, फिर पृ० ५

कतिपय फुटकर पद्य भी बतलाये जाते हैं। कुछ उदाहरण ये हैं--

आजु की हाल सुनो सजनी, मडये प्रगटे यक कौतुक भारी।
जेंवत नारि बराति सबै, रघुनाथ लख्यौ मिथिलेस अटारी॥
श्री रघुवीर को देखि स्वरूप, भई मति विभ्रम गावनिहारी।
भूलि गई अवधेस को नाम, तो देन लगीं मिथिलेस को गारी॥[1]

जिनके हिय पिघले नहीं, देखि रूप सुनि तान।
रामसखे तजिये तुरत, वे नर महा पखान॥
काम क्रोध अरु लोभ हूँ, तजे होत कछु नांहि।
रामसखे दृग रामके, लगे न जो दृग मांहि॥[2]

छह

अवध के अन्तर्गत रसिकोपासना को सर्वप्रथम विशेष रूप से अपनाने वाले रामप्रसाद जी अथवा 'विंदुकाचार्य' कहे जाते हैं। इनका जन्म सं० १७६० की श्रावण शुक्ला ७ के दिन मलीहाबाद में हुआ था। ये अपने बचपन के समय पढ़ने-लिखने की ओर ध्यान न देकर अधिकतर घूमा-फिरा करते थे। इनका विवाह भी अल्पावस्था में ही हो गया और इनकी प्रवृत्ति बराबर उसी ओर बनी रहती जान पड़ने लगी। किन्तु एक बार अपने माता-पिता द्वारा कड़ाई के साथ डाँटे जाने पर इनमें कुछ सुधार के लक्षण दीख पड़े और ये अब साधुओं की सेवा में लीन रहने लगे। फिर क्रमशः जब इनकी पत्नी का देहांत हो गया और इन्हें कुछ विरक्ति आ गई तो ये अपने गाँव के बाहर कोई कुटी बनाकर रहने लगे। ये वहाँ से प्रति रामनवमी के अवसर पर अयोध्या आते और जन्मोत्सव में भाग लेते। अंत में, जिस समय इन्होंने वहीं पर अपना निवास-स्थान भी बना लिया और वहाँ रहकर अपने इष्टदेव की उपासना में लीन रहने लगे एक विचित्र घटना घटी जिससे ये बहुत अधिक प्रभावित हुए

---

१. फुटकर पद्य २. नृत्यराघव मिलन, पृ० ५७

और जिसने उस नगर के निवासी साधुओं में इनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ा दी। कहते हैं कि एक दिन ये अपने माथे पर तिलक लगाना भूल गए और बिना किसी ऐसे चिह्न को धारण किये ही, इन्होंने अपना माथा टेक दिया। परंतु आश्चर्य है कि इनके ललाट पर उस समय एक बिन्दी आपसे आप लगी हुई दीख पड़ी जो स्वयं सीता जी की मूर्ति के ही अनुकरण में थी और जिसका उन्हीं द्वारा दिया जाना भी मान लिया गया था। उस बिन्दी वा विंदु की विशेषता के ही कारण ये वहाँ पर 'विंदुकाचार्य' कहलाकर भी प्रसिद्ध हो गए। ये बड़े ही उदार हृदय के भक्त थे। ये बहुधा कनक भवन में अपने हाथ से झाड़ू लगाया करते और वहाँ पर साधारण से साधारण परिचर्या किया करते थे। कहते हैं कि एक बार किसी ने जब एक गधे को कंठी माला पहना दिया तो इन्होंने बड़ी श्रद्धा के भाव से उसकी प्रदक्षिणा की। इसी प्रकार, एक बार किसी मुसलमान को अपनी पंक्ति में बिठाकर खिलाने में भी किसी हिचक का अनुभव नहीं किया। ये मधुरोपासना में ही सदा निरत रहनेवाले भक्त थे और अपने इष्टदेव 'युगल सरकार' के सामने घुँघरू बाँधकर और तंबूरा लेकर कीर्त्तन किया करते थे। इनका देहांत सं० १८६१ की श्रावण कृष्ण ३ के दिन हुआ। इस प्रकार इनके जन्म एवं मरण की तिथियाँ वे ही हैं जो तुलसीदास की भी थीं। कदाचित् इसी कारण, इनके विषय में यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है--

बालमीक तुलसी भये, तुलसी रामप्रसाद।

विंदुकाचार्य की ही भाँति गोस्वामी तुलसीदास का अवतार समझे जाने वाले एक अन्य रामोपासक भक्त रामचरणदास भी हुए जिनका जन्म प्रतापगढ़ जिले के अन्तर्गत सं० १८१७ में हुआ था और जिन्होंने पहले साधारण शिक्षा प्राप्त करके प्रतापगढ़ के ही राजा की नौकरी कर ली। किन्तु अपने भक्तिभाव में इसके कारण व्यवधान पड़ता देखकर इन्होंने वहाँ से त्यागपत्र दे दिया और ये अयोध्या में रहने लग गए। स्वामी विंदुकाचार्य से जब इनकी भेंट हुई तो इन्होंने उन्हीं के कहने से उनके

शिष्य रघुनाथ प्रसाद का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। परंतु जब उन्हीं के आदेशानुसार इनके अपने घर लौटकर गृहस्थी का जीवन व्यतीत करने का प्रश्न आया तो इन्होंने एक दिन खाकर उठे हुए साधुओं का जूठन उठाना और खाना आरंभ कर दिया जिससे इनके कुटुम्बियों के आत्म-सम्मान को ठेस लगी और उन्होंने इन्हें छोड़ दिया। फिर विन्दुकाचार्य के ही साथ ये चित्रकूट गये और इन्होंने मिथिला की भी यात्रा की। अंत में, रैवासा जाकर 'अग्रसागर' ग्रंथ का अनुशीलन आरंभ किया। वहाँ से लौटकर इन्होंने अयोध्या के जानकी घाट पर अपनी एक नवीन गद्दी की स्थापना की और ये अष्टयामीय भक्ति का प्रचार करने लग गए। आधुनिक समय में रसिकोपासना का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित प्रचार करने वाले रामचरणदास ही कहे जाते हैं। इन्होंने न केवल ग्रंथ-रचना द्वारा उस कार्य को बहुत आगे बढ़ाया, अपितु दूसरे भक्तों के साथ सुलभ सतसंग एवं सुन्दर व्यवहार द्वारा भी इन्होंने इसके प्रभाव में वृद्धि की। सबके साथ समुचित संपर्क रखने तथा सभी की सहायता के लिए सदा प्रस्तुत रहने के ही कारण ये लोगों में 'करुणासिंधु' कहलाकर प्रसिद्ध थे। गोस्वामी तुलसीदास की प्रसिद्ध रचना 'रामचरित मानस' की ये जानकी घाट पर कथा कहा करते थे और इन्होंने उसकी एक टीका भी की है। इनका देहांत माघ शुक्ला ९ संवत् १८८८ को हुआ और इनके शिष्यों में से 'जीवाराम', 'युगलप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'हरिदास' विशेष प्रसिद्ध हुए। इनकी रचनाओं में से २५ अभी तक उपलब्ध हो सकी हैं जिनमें से 'राम चरित मानस' की टीका कदाचित् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

स्वामी रामचरणदास की रसिकोपासना की विशेषता इस बात में लक्षित होती है कि उन्होंने सखी भक्तों को सीता जी की सपत्नी के रूप में माना है और इनमें से भी सर्वप्रमुख स्थान हनुमान जी के 'चारुशीला' नामक रूप को दिया है। वही इनकी आद्याचार्य स्वरूप हैं। इस प्रकार, इस धारणा के अनुसार, प्रत्येक ऐसे भक्त का सम्बंध अपने इष्टदेव श्रीराम

के साथ पत्नी एवं पति का जैसा हो जाता है। इसीलिए इनका परम कर्त्तव्य उन्हें रिझाने के लिए स्त्रीवत् शृंगार करने आदि तक का हो जा सकता है। ये अपने को उनके सान्निध्य में रखना चाहते हैं और इस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं जिससे शृंगारिक आनंद का अनुभव कर सुखी बने रहें। रसिक संप्रदाय की इस शाखा को इसी कारण, 'स्व-सुखी' नाम भी दिया गया है जिसका तात्पर्य यह हो सकता है कि इसके भक्तों का इष्टदेव के साथ सीधा सम्बंध है। ये उसे अपना पतिवत् मानकर तदनुसार व्यवहार करने में सुखी रहा करते हैं तथा ये अपने को श्रीसीता की श्रेणी तक का कह सकते हैं। यहाँ पर सुख की अनुभूति किसी साधक को उसके भोक्ता रूप में होती है केवल साक्षी रूप में ही नहीं हुआ करती। इस उपासना-पद्धति में निरत रहने वाले भक्तों में प्राचीनकाल के शठकोप एवं गोदा आलवारों की गणना की जा सकती है। मध्यकालीन भक्तों के उदाहरण में मीराँबाई का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने गिरधर गोपाल को सदा अपने पति के रूप में ही स्वीकार किया। रामचरणदास के शिष्य श्री जनकराज किशोरी शरण अथवा 'रसिक अली' जी ने इस पद्धति को और भी अधिक महत्त्व प्रदान किया।

'रसिक अली' जी का जन्म काठियावाड़ प्रांत के अन्तर्गत, सुदामापुरी के निकट सं० १८७५ के लगभग हुआ था और ये अपने बचपन में ही किसी साधु के साथ तीर्थयात्रा करते हुए अयोध्या चले आए थे। कहते हैं कि अयोध्या में जब ये एक दिन कनक भवन गये थे इन्हें वहाँ बैठे-बैठे नींद आ गई और वहाँ पर स्वप्न में भगवान के दिव्य विहार की एक झाँकी पाकर ये रोने लग गए। तदुपरांत इन्हें ऐसी विचित्र दशा में पाकर किसी महात्मा राजाराघवदास ने इन्हें अपने आश्रय में ले लिया और वे इन्हें शिक्षा प्रदान करने लगे। उन्होंने इन्हें पहले अपनी आस्था के अनुसार दास्यभाव की ओर उन्मुख करना चाहा, किन्तु ये सखी भाव की ओर ही प्रवृत्त हो जाते रहे। अतएव राजाराघवदास जी इन्हें रामचरणदास जी के यहाँ ले गए और वहाँ पर इन्हें जीवारामजी के साथ दीक्षा मिल गई।

तब से ये रस-साधना में पूरे मनोयोग के साथ जुट गए। कनक भवन वाले नित्य विहार की झाँकी के ही आधार पर इन्होंने अष्टयाम एवं युगल विहार की विविध लीलाओं के साक्षात् अनुभव में अपना समय व्यतीत करना आरंभ कर दिया। कुछ दिन पीछे जब ये अपने शिष्य टिकारी के राजा की सहायता से युगल सरकार के माधुर्य केलि-सदन का निर्माण कराने लगे तो इन्होंने उसके राजगीरों को पीत वस्त्र पहनाये, उनके शरीरों पर सुगंधित द्रव्यों का लेपन कराया, उनके पैरों में घुँघरू बाँध दिये तथा काम करते समय उन्हें तथा मजदूरों को माधुर्य भाव की ओर आकृष्ट करने के लिए मधुर बाजे भी बजवाये। इसके अतिरिक्त इन्होंने इसी प्रसंग में साधुओं का भंडारा भी किया तथा बड़े धूमधाम के साथ विवाह-लीला भी करायी। इन सभी बातों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जितने रुपये उक्त कार्य के लिए नियत थे उनमें से आधे से अधिक समाप्त हो गए और निर्माण का काम अधूरा रह गया। तब ये अयोध्या को छोड़ जालौन की ओर चल पड़े, जहाँ पर इनके सिद्धान्तों का बहुत प्रचार हुआ और ये वहाँ पर १२ वर्षों तक रह गए। अंत में इनके पुनः अयोध्या लौट कर आने पर इनकी मृत्यु अगहन सुदी १५ सं० १९०९ को हो गई। इनके द्वारा रचित ग्रंथों की सूची से पता चलता है कि वे लगभग सभी प्रकार के हैं और उनकी संख्या २४ तक पहुँच जाती है।

'रसिक अली' जी की रचनाओं के उदाहरण में एक नीचे का पद्य दिया जा सकता है —

प्रीतम प्रिया मुख सलिल श्रमकन, पोछि हित सुखलेत।
जनु नागराज सुइंदु अरचत, सुधा साधन हेत॥

जब लाडिली कटि लचकि मचकति, झुकति पिय की ओर।
तब जात बलि बलि लाडिलौ, गति होत चंद चकोर॥

जब परस बाल उरोज चंचल, उड़त सिय सकुचाय।
पुनि हेरि पिय तन नमित चख रहि, रसन वसन दबाय॥

लखि हाव पियकर भाव सरसत, चाव चित उमगात ।
सो निरखि दंपति सुख सरस अलि, मुदित उमगी गात ॥[1]

इस प्रकार 'स्वसुखी' शाखा के अनुयायियों की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनकी प्रवृत्ति घोर श्रृंगारिकता की ओर थी। इसी कारण वे युगल सरकार की गुप्त विहार सम्बंधी लीलाओं को अधिक महत्त्व देते थे और प्राचीन समझे जाने वाले 'भुशुंडी रामायण', 'बृहत्कोशल खण्ड' तथा 'आनंद रामायण' जैसे श्रृंगार रस पूर्ण ग्रंथों का समादर भी किया करते थे।

परंतु 'स्वसुखी' शाखा के विपरीत प्रचलित 'तत्सुखी' शाखा के भी अनुयायियों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस नाम की शाखा का प्रवर्त्तन वस्तुतः कृपानिवास जी के ही समय से हो चुका था, किन्तु इसके सबसे बड़े प्रचारक जीवाराम जी हुए। जीवाराम जी वा 'युगल प्रिया' वर्तमान छपरा जिले के इसुआपुर गाँव के मूल निवासी थे और महात्मा शंकरदास के पुत्र थे। ये पहले व्याकरण, ज्योतिष आदि के ही विद्यार्थी रहे, किन्तु इनकी प्रवृत्ति भक्ति की ओर देखकर शंकरदासजी ने इन्हें 'ध्यानमंजरी' पढ़ने को दे दी। फिर उन्हीं के कहने पर ये अयोध्या भी आये और स्वामी रामचरणदास की दीक्षा ग्रहण कर इन्होंने उनकी 'मानस' की टीका भी पढ़ डाली। इस ग्रंथ द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित होकर ये फिर छपरा जिले के चिरान गाँव में चले आए और वहाँ पर इन्होंने एक कुटिया भी बना ली। परंतु ये अयोध्या बराबर जाया करते थे और वहाँ पर कुछ दिनों तक रह भी जाया करते थे। एक दिन जब ये साधुओं की पाँत में से भोजन करके उठे तो देखा कि इनके गुरु रामचरणदास अपने नियम के अनुसार अन्य जूठनों के साथ इनके भी जूठन खा रहे हैं जिसका इन्हें बड़ा दुख हुआ और ये पीछे जान-बूझकर अन्यत्र ठहरने का प्रबंध कर आए।

ये अपनी 'तत्सुखी' की परंपरा के अनुसार, इष्टदेव के प्रति पति-

१. आंदोलरहस्य दीपिका, पृ० ८

पत्नी का भाव न रखकर, सखी भाव को प्रश्रय देते थे और इसके नियमों का पालन करते हुए इन्हें 'युगल सरकार' के सामने मृदंग बजाना पड़ता था जिसमें ये बहुत निपुण थे। कहते हैं कि इसी प्रसंग में एकबार चारुशीला (हनुमान) जी ने जानकी जी की प्रधान सखी एवं बहन चन्द्रकला को परामर्श दे दिया कि वे इन्हें अपने समाज में रख लें तथा उन्होंने इन्हें भी आदेश दिया कि ये उन्हें ही अपनी आचार्या स्वीकार कर लें। तब से रामचरणदास की परंपरा में एक ओर जहाँ 'चारुशीलापरत्व' की भावना चलती आ रही थी, वहाँ दूसरी ओर उसमें 'चन्द्रकलापरत्व' की भी प्रतिष्ठा हो गई जो अब तक प्रचलित है। युगलप्रियाजी ने इस प्रकार अपनी रसिकोपासना द्वारा सांप्रदायिक भावनाओं में 'श्रीवृद्धि' की। परंतु इससे भी अधिक महत्त्व का कार्य, कदाचित् इनकी उन रचनाओं द्वारा सम्पन्न हुआ जो संख्या में केवल चार होती हुई भी अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई है। इनकी 'रसिक भक्तमाल' पूरे रसिक संप्रदाय की दृष्टि से, एक अमूल्य रचना है और इनके अन्य तीन ग्रंथों से भी उस परंपरा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इसके सिवाय इनकी 'तत्सुखी' शाखा का प्रभाव भी 'स्वसुखी' नाम की शाखा से कहीं अधिक दीख पड़ता है। इसके अनुयायियों का यह कथन कि श्रीराम जैसे एकपत्नीव्रत वाले इष्टदेव के प्रति पत्नी भाव का रखना अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है। इसके साथ ही, जब कभी तत्सुख सम्बंधी अनुभूति पूर्णतः दृढ़ हो जाती है तो वह आप से आप स्वसुख में परिणत हो जा सकती है। इस कारण स्वसुखीपरक साधना का कोई पृथक् महत्त्व नहीं, बहुत कुछ तर्क-संगत प्रतीत होता है। इस सम्बंध में स्वयं 'युगलप्रिया' जी का ही कहना है--

तत्सुखरास करत संग प्यारी। लही स्वसुख सम्बंध विचारी ॥
जहँ थल है तहँ जल चलि आवै। सेवा सुख में स्वसुख लखावै ॥
होरी में धरि ल्याई संग में। स्वसुख रह्यो कहुँ दूसर अंग में ॥[1]

---

१. श्रृंगाररस रहस्य दीपिका, पृ० ११

जिससे प्रकट होता है कि स्वसुख, वस्तुतः तत्सुख की ही परिणति का एक अन्य नाम है। युगलप्रियाजी का देहांत सं० १९१४ में हुआ।

'रसिक अली' एवं 'युगलप्रिया' के ही समकालीन एवं अन्य रसिक महापुरुष युगलानन्यशरण 'हेमलता' जी भी हुए जिनका जन्म वर्तमान पटना जिले के अन्तर्गत इस्लामपुर नामक गाँव में सं० १८७५ की कार्तिक शुक्ला ७ के दिन हुआ था। ये न केवल संस्कृत और हिन्दी के ही अच्छे विद्वान् थे, अपितु इनकी फ़ारसी एवं अरबी भाषाओं में पूरी गति रही। इनकी रचना में इसी कारण, सूफ़ीपन की भी मस्ती एवं शब्दावली दीख पड़ती है। इसके सिवाय इन्हें मल्लविद्या का अभ्यास था और ये संगीतशास्त्र के भी ज्ञाता और कलाविद् कहे जाते थे। अपने माता-पिता का देहांत हो जाने के कारण ये साधु-संतों के समाज की ओर अल्पावस्था में ही आकृष्ट हो गए और किसी साधु से 'युगलप्रिया' की प्रशंसा सुनकर उनके संपर्क में भी आ गऐ। वहीं पर कदाचित् इन्हें 'युगलानन्यशरण' का नाम भी मिला और ये तीर्थयात्रा में प्रवृत्त हुए। कहते हैं कि ये पहले बहुत दिनों तक गृहस्थ वेश में ही रहा करते थे और घोड़े की सवारी करते तथा अपने पास कुछ सामान भी रखा करते थे। किन्तु काशी से चित्रकूट पहुँचने पर इन्होंने अपना सभी कुछ दान कर दिया और वहाँ से अयोध्या आकर लक्ष्मण किला पर निवास करने लगे। ये फिर वहाँ से भी कभी-कभी चित्रकूट की यात्रा करते रहे और इन्होंने कुछ दिनों तक मौनव्रत भी धारण किया। किन्तु इनका चित्त क्रमशः काव्य-रचना की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता चला गया और अपने अंतिम दिनों तक इन्होंने कुल मिलाकर ८४ ग्रंथों का निर्माण कर दिया। इनका देहांत सं० १९३३ की अगहन सुदी ७ के दिन हुआ, जब ये अभी ६० वर्ष की अवस्था तक भी नहीं पहुँच पाये थे। इनका वेश प्रायः सूफ़ियों जैसा ही रहा करता था और ये लंबा चोगा और ऊपर की ओर उठी टोपी पहनते थे तथा हाथ में लंबी माला भी लिये रहा करते थे। इनकी रचना-शैली में लगभग सभी प्रकार के साहित्यिक लक्षण पाये जाते हैं और इनकी

भाषा में भी लालित्य एवं सरसता प्रचुर मात्रा में दीख पड़ती है। इनकी फुटकर रचनाओं के उदाहरण में यहाँ पर एक इस प्रकार दी जा सकती है—

कोइ वाम रूप भजि शाक्त हुए, कोइ अस्मृति शासन ग्रसे हुए।
कोइ निर्गुण ब्रह्म समझते हैं, सुषमाना आसन कसे हुए ॥
कोइ महाविष्णु को जाप किये, उर माल छाप भुज लसे हुए।
जालिम, हम हाय कहाँ जावें, तेरे जुल्फ जाल में फँसे हुए ॥

युगलानन्यशरण जी अपनी काव्य-रचना के अतिरिक्त अपने पांडित्य के लिए भी प्रसिद्ध थे। किन्तु उनके एक अन्य समकालीन साधु बनादास ने कदाचित् कुछ भी शिक्षा नहीं प्राप्त की थी और इन्होंने फिर भी लगभग ६४ ग्रंथों का निर्माण किया। ये वर्तमान गोंडा जिले के अशोकपुर गाँव में सं० १८७८ की पौष सुदी ४ को उत्पन्न हुए थे और एक क्षत्रिय किसान की संतान थे। परंतु इनके हृदय में अपने बचपन से ही विरक्ति का भाव जागृत हो चुका था जिसका परिणाम पीछे पूर्णरूप में लक्षित हुआ। कहते हैं कि जब इनके इकलौते पुत्र का देहांत हो गया तो ये उसके शव के साथ निकलकर अयोध्या चले गए और फिर वहीं के हो गए। वहाँ से ये फिर कभी-कभी काशी, मिथिला, चित्रकूट, प्रयाग एवं नीमसार तथा सूकरखेत भी चले जाया करते थे, किन्तु इनका प्रधान केन्द्र सदा अयोध्या ही बनी रह गई और वहीं के रामघाट पर इन्होंने अपने आदर्श भरत जी की भाँति १४ वर्षों की तपस्या की। इनमें त्याग एवं अनासक्ति का भाव बहुत अधिक था और किसी के कुछ देने लगने पर ये प्रायः कहने लगते थे—

जाँचब जाव जमाति जर, जोरू जाति जमीन।
जतन आठ ये जहर सम, बनादास तजि दीन ॥

बनादास की भक्ति प्रधानतः दास्यभाव की थी, किन्तु ये अपने को 'युगल सरकार' के रंगमहल का दास मानते थे और स्वयं अपने को 'बना' अर्थात् दूल्हा राम का ही 'दास' कहते हुए उनकी माधुर्यपूर्ण लीलाओं के ध्यान एवं चिंतन में लगे रहा करते थे। इनका विश्वास था कि मैं रामावतार

के समय दूल्हे राम के साथ उनका 'खास' दास बनकर मिथिला गया था। मेरा प्रवेश एक 'मधुरदास' के रूप में उनके भीतरी महलों तक में बिना किसी भी रोकटोक के साथ स्वभावतः हो सकता है। इनके कुछ दोहे इस प्रकार हैं--

> पियसो अंतर ना सहै, झीना वसन पहार।
> रोम रोम में रमि रह्या, बनादास दिलदार॥
> ब्याही जान्यो पीव सुख, अनब्याही अनमेल।
> बनादास कैसे लखै, खेलत गुड़िया खेल॥
> बिरह बान लाग्यो नहीं, भयो न पिय को संग।
> बनादास कैसे चढ़े, निज सरूप को रंग॥
> अकथनीय मन बुद्ध पर, कहैं कौन विधि बैन।
> बनादास जानै कोऊ, सखी सखी को सैन॥[1]

जिस प्रकार बनादास जी अपने को महाराजा रामचन्द्र के महलों में प्रवेश कर सकने वाला दास मानते थे, उसी प्रकार पंडित उमापति त्रिपाठी 'कोविद' अपने को राजकुमार रामचन्द्र का शिक्षागुरु समझा करते थे। इस प्रकार इनकी भक्ति वात्सल्यभाव की कही जा सकती थी। अपने गुरु होने के नाते ही ये अपने को उनके संपर्क में आने का अधिकारी मानते और उनका मित्र वा सभासद भी कहा करते। इनका जन्म देवरिया जिले के पिंडी नामक गाँव में आश्विन कृष्ण ९ (सं० १८५१) को हुआ था और इन्हें पूरी शिक्षा भी मिली थी। अपने प्रकांड पांडित्य एवं काव्य-कौशल के ही कारण ये 'कोविद' भी कहे जाते थे। कहते हैं कि एक बार इन्होंने रीवाँ के दर्बार में 'श्रीमद्भागवत' के प्रथम श्लोक के ४७ अर्थ किये थे। इनमें से कुछ को स्वयं वहाँ के महाराज विश्वनाथसिंह पर भी घटा दिये थे। इन्होंने अनेक स्थलों पर पंडितों से विभिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ करके 'श्रीमच्छतकजयप्रवर्त्तक' की उपाधि भी प्राप्त की थी। परंतु ये

---

१. विवेक मुक्तावली।

फिर भी 'श्री युगल सरकार' की माधुर्य लीला का ही चिंतन करने वाले सच्चे उपासक रहे और इनका देहांत सं० १९३० में हुआ। ये कहते हैं—

बनरा रे जनकपुर एलो।
निज सोभा रस सरस नसा दै, सब मतवारो कैलो ॥
नित्तनिमित्त सबै सब छूटे, का जानी का भैलो।
'कोविद' पानि मीन गति लखियत, ऐलो अजब छैलो ॥[1]

इसी प्रकार कामेन्दु मणि नाम के एक अन्य रसिक भक्त भी अपने को श्रीरामचन्द्र का अग्रज या बड़ा भाई माना करते थे। इनका जन्म वर्तमान लखनऊ जिले के औरायाँ नामक गाँव में हुआ था और ये ४० वर्षों तक सत्संग एवं तीर्थाटन में प्रवृत्त रहे थे। इनका देहांत सं० १९६० की आश्विन प्रतिपदा को हुआ था और इनकी केवल दो रचनाएँ ही उपलब्ध हैं। सीताशरण, 'रामरसरंग मणि' (सं० १९१६-१९६९) मूलतः चित्रकूट के निकटवर्ती रामपुर के निवासी थे और अयोध्या एवं जनकपुर में इन्होंने अपनी साधना की थी। ये भी अच्छे विद्वान् थे और बहुत सुन्दर कविता करना जानते थे। किन्तु अपने 'सख्यभाव' को ये 'मधुरसख्य' का नाम देते थे। इनका कहना था--

जब रघुवीर ब्याहि घर आये, पाये सुख ससुरारी के।
पिता प्रथम जेवनार नेग में, मोहि दिय रघुबर प्यारी के ॥
अहैं विहारिणि के हम ताते, यद्यपि अवध बिहारी के।
मणि रसरंग दुलारे न्यारे, सिय स्वामिनि सुकुमारी के ॥[2]

सीतारामशरण भगवान् प्रसाद 'रूपकला' जी (सं० १८९७-१९८९) छपरा जिले के मुबारकपुर के रहने वाले थे। ये बहुत दिनों तक शिक्षा विभाग में निरीक्षक के पद पर काम करते हुए भी भजन भाव में लगे रहे। किन्तु अंत में, इन्होंने उससे त्यागपत्र देकर अयोध्या में निवास

१. राम पदावली, पृ० १२२
२. श्री रामरसरंग विलास, पृ० ३९

किया और मधुरोपासना में निरत रहते हुए अपनी इहलीला संवरण की। इनकी रचनाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध 'भक्ति सुधा विन्दु स्वाद तिलक' नामक नाभादास की 'भक्तमाल' की टीका है जिसके अन्तर्गत इन्होंने अपने भक्ति-सिद्धांत का भी पूरा परिचय दे दिया है। इनका वहाँ पर कहना है—

सुमुख सुलोचन सरस सत, चिदानन्द छवि धाम।
प्राण प्राण जिय जीव के, सुख के सुख सियराम॥
श्री हरिगुर करकंज पहिं, अर्पति मन बच काय।
'रुपिया' सोइ तुच्छ अति, कृपया ले अपनाय॥[१]

जिससे स्पष्ट है कि ये अपने को स्त्री-भक्त के रूप में समझते थे। इसी प्रकार छपरा जिले के ही निवासी एक अन्य 'मधुरदास्य' के भक्त रामाजी (सं० १९२८-१९८५) भी थे। इन्होंने श्रीराम के दूलह रूप की ओर ही अधिक ध्यान दिया और इनकी प्रवृत्ति इतनी दृढ़ बन गई कि ये जहाँ कहीं भी किसी दुलहे को देखते उसकी सेवा करने लग जाते। ये 'रामच-रितमानस' को भी श्रीराम का रूप ही समझते थे और उस ग्रंथ का भी विवाहोत्सव मनाते थे। इन्होंने लोकगीत भी अच्छे कहे हैं।

सात

रसिक संप्रदाय के इन अनुयायियों एवं प्रचारकों में एक-से-एक बढ़कर उपासक एवं सरस काव्य के रचयिता हो गए हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिन्होंने भक्तिभाव से भरे सुन्दर पद्यों की ही रचना कर उन्हें सच्चे उमंग के साथ गाया है। परंतु उनके अतिरिक्त अनेक ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने इस संप्रदाय के मूल सिद्धांत एवं साधना-पद्धति का सुन्दर विवेचन भी किया है। ये लोग ऐसी बातों का न केवल पूर्व रचित प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर प्रतिपादन मात्र करते हैं, अपितु उनकी व्याख्या और विस्तार

---

१. 'भक्तमाल' की टीका के समर्पण वाले अंश से।

का भी यत्न करते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिन्होंने केवल अपने द्वारा अनुमोदित उपासना-पद्धति का ही विस्तार और विवेचन किया है। परंतु अन्य इस प्रकार के लोग भी हैं जिन्होंने संप्रदाय की सारी विशेषताओं को भली-भाँति समझने और समझाने की ओर भी ध्यान दिया है। इसके सिवाय कुछ ऐसे कवियों और लेखकों ने अपने संप्रदाय के विशिष्ट भक्तों का गुणगान किया है तथा विशिष्ट ग्रंथों की टीकाएँ भी रची हैं। इस प्रकार इन सभी लेखकों के यत्न स्वरूप, एक विशाल वाङ्मय की सृष्टि हो गई है जिसका महत्त्व अनेक दृष्टियों से परखा जा सकता है। इधर के इस प्रकार साहित्य-रचना करने वालों में एक नाम सियालाल शरण जी 'प्रेमलता' का लिया जाता है। इन्होंने अपने लगभग ३०-३५ ग्रंथों द्वारा सांप्रदायिक साहित्य के अनेक अंगों की श्रीवृद्धि की है और इस प्रकार विविध सिद्धांतों का समन्वय भी किया है। ये ग्वालियर राज्य के मूल निवासी थे और इनका जीवन-काल संवत् १९२८ से संवत् १९९७ तक रहा और ये काशी में इंजन से धक्का खाकर मरे थे।

ऐसे रसिक भक्तों द्वारा रचे गए विविध ग्रंथों से पता चलता है कि इस संप्रदाय की प्रमुख विशेषता इसके अनुयायियों का अपने इष्टदेव सीताराम के प्रति किसी न किसी प्रकार की आत्मीयता का भाव स्थापित करके उसकी उपासना करना है। इसकी प्रेरणा उन्हें कदाचित्, इस बात से मिलती है कि जब तक हम अपने उपास्य के निकटवर्ती होकर उसे समझने की चेष्टा न करें उसकी सच्ची भक्ति नहीं कर सकते, न हमें उसकी ओर से उस 'दयानिधि' ही की उपलब्धि हो सकती है जो वैसी भक्ति-साधना का स्वाभाविक परिणाम है। इस आत्मीयता के सम्बंध को रसिक संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी अग्रदास ने केवल सखीभाव तक सीमित रखा था जिसके दो रूप हो सकते थे। या तो उसका साधक अपने को अपने 'युगल सरकार' श्रीराम एवं सीता की विविध दीव्य लीलाओं का साक्षात् अनुभव, उनकी अंतरंग परिचारिका बनकर कर सकता था और इस प्रकार, अपने अभीष्ट आनंद का अधिकारी होता था अथवा

वह स्वयं श्रीराम के प्रति दाम्पत्यभाव का सम्बंध स्थापित कर लेने की चेष्टा करता और उसका उपयोग करने लग जाता था। परंतु इसके अतिरिक्त भक्ति साधना के अन्तर्गत एक अन्य भी पद्धति प्रचलित थी जिसे सखाभाव का नाम देते थे और जो उक्त सखीभाव के प्रथम रूप जैसी होने के कारण उससे बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। दास्यभाव एवं वात्सल्यभाव इन दो की श्रेणी तक नहीं पहुँच पाते थे, क्योंकि इनमें उस अंतरंगत्व की कुछ कमी आ जाती थी जो उपासक और उपास्य के समवयस्क समरूप वा समतुल्य होने पर ही निर्भर कहा जा सकता है। स्वामी अग्रदास के समकालीन कृष्ण भक्तों में ये सभी प्रकार के भाव दीख पड़ते थे। इसीलिए ऐसा अनुमान कर लेना भी अनुचित नहीं कि इन्हें उनकी ओर से ही प्रेरणा मिली होगी।

रसिक संप्रदाय की एक दूसरी विशेषता यह थी कि इसकी साधना का रूप न तो केवल वैधी भक्ति का था और न रागानुगा का ही था। उसमें इन दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण था जिस कारण एक ओर जहाँ हम इसमें परंपरानुसार विहित विभिन्न तिलकों और छापों का धारण करना तथा बाह्य पूजन एवं अर्चन का निर्वाह किया जाना अत्यंत आवश्यक पाते हैं, वहाँ दूसरी ओर इसमें उन एकांतनिष्ठा, प्रेमोल्लास एवं विरहानुभवादि की भी मात्रा कम नहीं है जिनका वर्णन श्रीकृष्ण भक्तों के गोपीभाव की विशेषताएँ समझी जाती हैं। रसिकाचार्य 'रसिक अली' जी ने रसिकोपासना की रसधारा का वैधी एवं रागानुगा इन दोनों ही तटों के बीच प्रवाहित होना कहा है, जैसे--

> **वैधी अरु रागानुगा, उभय कूल सो जान।**
> **करि निवास जे मज्जही, तिनकर सुकृत पुरान ॥**[1]

इसी प्रकार इस साधना के अन्तर्गत यह बात भी लक्षित होती है कि इसका साधक अपने उपास्य में केवल ऐश्वर्यभाव अथवा नितांत माधुर्यभाव को

---

१. अनन्य तरंगिनी, पृ० १

ही महत्त्व देता नहीं दीख पड़ता, प्रत्युत वह उसमें इन दोनों का एक साथ अनुभव किया करता है। उदाहरण के लिए वह अपने इष्टदेव श्रीराम को दास्य भावना के अनुसार, अनंत ऐश्वर्य विभूषित राजाधिराज के रूप में देखता हुआ उनके समक्ष अपने को विविध सेवाओं में निरत पाता है। फिर मधुरभावना से प्रेरित होकर तथा उनमें निखिल सौन्दर्य एवं माधुर्य का आरोप करके उनके साथ अनेक प्रकार के लाड़ लड़ाने की ओर भी प्रवृत्त हो जाता है।

परंतु इसकी एक तीसरी विशेषता यह भी है कि उक्त प्रकार से दास्यभाव के साथ अथवा सख्यादि के साथ माधुर्यभाव का संयोग होते रहने पर भी, यहाँ उसके कारण, कोई वैषम्य नहीं आ पाता, न उचित अनुपात ही भंग हो पाता है। इसके साधक के लिए अपने उपास्य 'युगल सरकार' में एक ही साथ सारे गुणों का समावेश है। उनमें अपूर्व तारतम्य एवं सामंजस्य की भी प्रतिष्ठा है जिस कारण वह चाहे उन्हें जिस रूप में भी उपभोग करना चाहे, उनका संतुलन कभी नहीं बिगड़ सकता। इसके सिवाय इन साधकों की रागानुगा भक्ति का भी रूप श्रीकृष्णोपासक सहजिया लोगों की सहजसाधना का जैसा नहीं, जहाँ पर केवल परकीया को ही महत्व दिया जाता है। जहाँ पर, इसी कारण, किसी प्रकार की मर्यादा की ओर ध्यान देना कभी आवश्यक नहीं माना जाता। यहाँ पर सभी कुछ अनियंत्रित-सा लगता हुआ भी, मर्यादित और नियमानुकूल है, जिस कारण यहाँ किसी प्रकार की उच्छृं-खलता की गुंजाइश नहीं। यहाँ पर स्वयं सीता ही श्रीराम की स्वकीया है और श्रीराम को भी उनके अतिरिक्त कोई भी अन्य पत्नी नहीं। श्रीराम एक पत्नीव्रत के सर्व प्रसिद्ध व्रती हैं। अतएव उनके प्रति किसी प्रकार के माधुर्यभाव का अनुभव करते समय, यह स्वाभाविक है कि इस बात को कभी विस्मृत न किया जाय। किसी माधुर्योपासक के लिए यह स्वाभा-विक है कि या तो वह उनकी प्रिया जानकी का कोई रूप होकर जाय अथवा वह उन दोनों की परिचर्या में उनका परम अंतरंग बनकर ही रहे।

इस प्रकार उन दोनों के दिव्य विहार का प्रत्यक्ष अवलोकन एवं अनुभव कर सके। रसिकोपासना के साधकों में मर्यादा का भाव यहाँ तक प्रतिष्ठित पाया जाता है कि वे अपने इष्टदेव के साथ किसी आत्मीयता-सम्बंध के निश्चित हो जाने पर उसके लिए विहित सामाजिक नियमों तक का पालन बड़ी सावधानी के साथ किया करते हैं। यदि उन्होंने अपने उपास्य श्रीराम को सूर किशोर की भाँति अपने प्रिय दामाद के रूप में स्वीकार कर लिया तो वे फिर एक मर्यादाभिज्ञ श्वसुर के रूप में स्वयं उनके नगर अयोध्या का अन्न अथवा जल तक ग्रहण नहीं कर सकते। यदि उन्होंने कहीं उन्हें उमापति त्रिपाठी की भाँति, अपने प्रिय शिष्य के रूप में ही मान लिया तो वे उन्हें अपने आशीर्वचन तक अर्पित कर सकते हैं जिसका अभिप्राय वस्तुतः कभी यह नहीं हो सकता कि ऐसे उपासक अपने उपास्य को किसी प्रकार निम्न श्रेणी का समझते हों। ऐसे स्वीकृत सम्बंधों द्वारा उसके प्रति आत्मीयता के किसी न किसी रूप को केवल घनिष्ठता प्रदान की जाती है। इस प्रकार उसके उस प्रत्यक्ष सान्निध्य का भी भाव व्यक्त किया जाता है जिसकी उपलब्धि ही इन साधकों का परम अभीष्ट भी है।

अपने इष्टदेव 'युगल सरकार' की लीलाओं से सम्बद्ध विविध नगरों वा स्थानों की यात्रा करते रहना इन साधकों की एक चौथी विशेषता है जो कम से कम इनको प्रारंभिक जीवन में अवश्य दीख पड़ती है। मिथिला वा जनकपुर को ये लोग जानकी जी की जन्मभूमि होने के कारण महत्त्व देते हैं और वहाँ पर ये इसलिए भी जाते हैं कि वहाँ उनके साथ श्रीराम का विवाहोत्सव भी रचा गया पाया था। यह स्थान इन्हें जानकी जी की बाललीला का स्मरण दिलाता है और ये उनके साथ सखीरूप में बाल-क्रीड़ा तक में अनुरक्त रहने की कल्पना किया क़रते हैं। इसी प्रकार एक अन्य स्थान चित्रकूट भी 'युगल सरकार' के विहारों के लिए प्रसिद्ध माना जाता है। वहाँ के विशेषकर 'कामदवन' एवं 'जानकी कुंड' नामक स्थलों के लिए कहा जाता है कि वे इनकी मधुरोपासना के लिए बहुत

उपयुक्त हैं। अयोध्या को ये लोग अधिकतर दास्यभाव की दृष्टि से महत्त्व देते थे, किन्तु अब कदाचित्, उसकी यह विशेषता नहीं रह गई। श्रीराम की जन्म-भूमि होने के नाते उसे सभी शाखाओं के लोगों ने अपना निवास-स्थान तक बनाने में एक विचित्र गर्व का अनुभव किया है। इसके सिवाय रसिकोपासना के प्रेमियों ने उन प्रमुख स्थलों को भी प्रायः तीर्थवत् ही महत्त्व दिया है, जहाँ इनके बड़े-बड़े आचार्यों ने कभी साधना की थी। गलता एवं रैवासा जहाँ पर अग्रदास जैसे पूर्वाचार्यों ने अधिक दिनों तक रहकर उपासना की, मैहर जहाँ पर रामसखे जी का निवास-स्थान रहा, उज्जैन जिससे कृपानिवास जी का सम्बंध था तथा मिथिला, चित्रकूट, अयोध्या आदि के वे विशिष्ट स्थल जहाँ-जहाँ पर कुछ समय तक रहकर रसिकाचार्यों ने अपनी सिद्धि प्राप्त की तथा जहाँ उनकी गद्दियाँ भी चल रही हैं, संप्रदाय की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखते हैं।

रसिक संप्रदाय के अनुयायी अपने को सदा एक अपूर्व कुटुम्ब का सदस्य मानते आए हैं। इस प्रकार उनकी यह भी धारणा रहती आई है कि जिस किसी ने उपास्यदेव के प्रति अपना कोई सम्बंध विशेष स्थापित कर लिया वह उसके कारण, किसी दूसरे सदस्य के साथ जिसका वह सम्बंध भिन्न ठहरता हो, स्वभावतः किसी एक नये नाते में आ गया। तदनुसार उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसके अथवा उसके वर्गवालों के भी साथ तदनुकूल व्यवहार करे। इस प्रकार का नाता प्रायः वहाँ भी देखा जाता है, जहाँ इनमें से अयोध्या के रहने वाले साधक उन लोगों को जो मिथिला के निवासी हैं अपनी ससुराल का जैसा मानते हैं और उसी के अनुसार उनके साथ विनोदपूर्ण बातें भी किया करते हैं। इस प्रकार की बातों द्वारा इनमें एक दूसरे के साथ सद्भावना, सौहार्द एवं सहयोग की प्रवृत्ति के लिए प्रेरणा मिलती है जिसका स्वयं एक अपना पृथक् महत्त्व है। इसके सिवाय रसिक संप्रदाय के अनुयायियों की एक दूसरे के साथ आत्मीयता का सम्बंध स्थापित करने में, उन बाह्य चिह्नों से भी कुछ न कुछ सहायता मिलती है जिन्हें प्रत्येक को अपनी अपनी परंपराओं

के अनुसार धारण करना पड़ता है। ऐसे तिलकों वा छापों को बाहर से देखते ही उन्हें यह पता चल जाता है कि अमुक व्यक्ति के साथ हमारा कितने निकट का सम्बंध है। तिलक एवं छाप के प्रयोग की पद्धति इस संप्रदाय के बहुत पहले से ही प्रचलित थी, किन्तु इसके अनुयायियों में उसके प्रचार को और भी प्रोत्साहन मिला।

रसिक संप्रदाय के मूलस्रोत रामावत संप्रदाय के अनुसार ललाट पर धारण किये जाने वाले तिलक के तीन अंग माने गए थे। इनमें से एक चिह्न नासिका के मूलदेश पर दोनों भौंहों को मिलाता जैसा जान पड़ता था। उसे 'सिंहासन' कहते थे, दूसरे का रूप उसके दोनों छोरों से ऊपर की ओर उठी हुई दो उर्ध्वपुण्ड रेखाओं द्वारा सूचित होता था तथा तीसरे का रूप एक विंदु जैसा था जो इन दोनों रेखाओं के बीच में कहीं 'सिंहासन' से ऊपर की ओर बना दी जाती थी और जिसे लोग 'श्रीविन्दु' के नाम से ही अभिहित भी किया करते थे। इस नवीन संप्रदाय की स्थापना हो जाने पर क्रमशः इन तीनों में ही कुछ न कुछ सुधार हुए और इनकी संख्या में भी वृद्धि कर दी गई। इनके अतिरिक्त जो चार अन्य अंग जोड़े जाने लगे उनमें से एक 'चन्द्रिका' का था जिसका रूप सीता जी के सौभाग्य-सूचक आभूषण जैसा रहा करता था। दूसरे की जगह 'मुद्रिका' थी जो उन्हीं की प्रसिद्ध मुँदरी का प्रतिनिधित्व करती थी। इसी प्रकार तीसरे तथा चौथे क्रमशः 'अर्द्धचन्द्र' एवं 'युगलनाम' कहलाते थे। परंतु यह आवश्यक न था कि प्रत्येक शाखा के लोग केवल एक ही प्रकार का तिलक धारण करें। किसी के तिलक में यदि 'सिंहासन' का चिह्न नहीं रहा करता था तो दूसरे वाले में 'चन्द्रिका' का ही अभाव था। इसी प्रकार यदि किसी तीसरे में कोई 'मुद्रिका' भी नहीं दीख पड़ती थी तो चौथे में इन तीनों में से एक भी नहीं रहता था और पाँचवें में हम 'श्रीविंदु' को ही सीधी रेखा में परिणत हो गई पाते थे। ये विभिन्नताएँ शाखा विशेष के प्रवर्तकों द्वारा प्रचलित की गई रहती थीं और ये तिलक के प्रत्येक अंग के रंगों तक में भी पायी जा सकती थीं।

शाखाओं अथवा परंपराओं की भी संख्या लगभग २४-२५ से कम न होगी, यों तो उनके भी अन्तर्गत कई उपवर्गों की सृष्टि की जा सकती थी। रसिक संप्रदाय के मूल स्थान होने का श्रेय राजस्थान को दिया जाता है, क्योंकि इसके सर्वप्रमुख प्रवर्त्तक अग्रदास जी वहीं के निवासी थे। वहाँ पर आज भी कम से कम चार बड़ी गद्दियाँ क्रमशः गलता, रैवासा, बालानंदी एवं टीलाद्वारपीठ के नामों से प्रसिद्ध हैं। उनके संस्थापक उसी प्रकार, श्रीकृष्णदास पयोहारी, अग्रदास, बालानंद और टीला जी कहे जाते हैं। राजस्थान से ही आकर सूर किशोर जी ने अपनी एक गद्दी मिथिला में स्थापित की थी, जहाँ उनकी जानकी-मन्दिर वाली शाखा के अतिरिक्त रसिक-निवास नरघोघी, बराही एवं पिपरा नाम की अन्य चार गद्दियाँ भी वर्तमान हैं और इनके स्थापक क्रमशः रसिकअली, रामलला, भक्तराम एवं रामदास कहे जाते हैं। मिथिला बिहार प्रांत से सम्बद्ध है और उसी प्रांत के एक अन्य स्थान चिरान (जिला छपरा) की भी एक पृथक् परंपरा है जिसके प्रवर्तक 'युगल प्रिया' जी थे। इसी प्रकार मध्यप्रदेशीय मैहर स्थान में भी एक अपनी परंपरा है जिसे रामसखे जी ने स्थापित की थी। परंतु इन सभी से कहीं अधिक संख्या उन गद्दियों की है जिनकी स्थापना उत्तर प्रदेश में हुई थी और इनमें से अधिकांश अयोध्या नगर में वर्तमान हैं। स्वयं रसिक अली एवं रामसखे जी ने जिनकी गद्दियाँ क्रमशः मिथिला और मैहर में चल रही हैं, अयोध्या में भी उन्हें स्थापित कर दी है। अयोध्या की अन्य प्रमुख गद्दियों में विंदुकाचार्य (बड़ा स्थान), रामदास (तपसी छावनी), गोमतीदास (हनुमन्निवास), रूपकला जी (रूपकला कुंज), झांझूदास (जयपुर मन्दिर), शीलमणि जी (दरबार लाल साहब), कामेन्दुमणि (साकेत राजमहल), उमापति जी (नयाघाट), रघुनाथदास (बड़ी छावनी), रामवल्लभाशरण (जानकी घाट), रामसनेही जी (रामघाट) की गद्दियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके सिवाय, उत्तरप्रदेश के ही अन्तर्गत लखनऊ नगर के कुडियाघाट स्थान पर एक ऐसी गद्दी मनसारामदास द्वारा स्थापित की गई भी पायी जाती है।

इसी प्रकार एक अन्य गद्दी ब्रजदेश के गोकुल में भी वर्तमान है जिसकी स्थापना किसी परमहंस भगवानदास ने की थी।

इस प्रकार रामोपासक रसिकों की यह परंपरा एक बड़े विशाल भू-क्षेत्र में प्रसारित होकर पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी है। इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं जिनकी ओर प्रसंगवश इसके पहले भी संकेत करते आये हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के ऐश्वर्य एवं शौर्यपरक चरित को इसके अनुयायियों ने सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से देखने का यत्न किया है। इन्होंने उनके व्यक्तिगत जीवन के केवल उस अंश को ही विशेष महत्त्व दिया है जिसका सम्बंध उनकी किशोरावस्था के साथ है। जो इसी कारण, न केवल उनके मोद-विनोद एवं हास-विलास की ही अभिव्यक्ति कर सकता है, अपितु जो उनके दाम्पत्य जीवन का भी पूरा परिचय दे सकता है। श्रीराम का श्रीजानकी के साथ विवाह उनकी क्रीड़ा-केलि, उनका अमोद-प्रमोद, उनका प्रेमालाप, उनकी शृंगारिक चेष्टाएँ तथा उनके पारस्परिक चुंबन एवं परिरंभण आदि सम्बंधी व्यापार तक भी इन रसोपासकों के ध्यान एवं चिंतन के विषय बन गए हैं। ये उनका अनुभव किसी प्रत्यक्षदर्शी के रूप में करते हैं। इसी उद्देश्य से ये अपने को उस दिव्य दम्पति की अंतरंग सखी वा सखा का स्थान भी दे लेते हैं। ये श्रीराम अथवा श्री जानकी के जीवन के उस अंश को ओर जिसमें या तो वनयात्रा और वनवास की कठिनाइयों का अनुभव भरा है अथवा जिसमें श्री जानकी के लंकाप्रवास एवं श्रीराम के भयंकर युद्धों के प्रसंग आते हैं, प्रायः कुछ भी ध्यान नहीं देते हैं। रसिक संप्रदाय के अनुयायी अपने 'युगल सरकार' के परम भक्त हैं और अपने भगवान के नाम, लीला एवं धाम के दिव्यत्व की भावना भी रखा करते हैं। किन्तु उनके जिन विवरणों में जाकर ये उनका वर्णन करने लगते हैं तथा जिस भावपूर्ण कथन-शैली का ये लोग प्रायः प्रयोग किया करते हैं उनके कारण सारे वर्ण्य विषय का मानवीय स्तर तक आ जाना सदा स्वाभाविक हो जाया करता है। इसके सिवाय स्वयं अपने इष्ट 'युगल सरकार' के प्रति अपने

विविध आत्मीयतापरक सम्बंधों की स्थापना करके वे अपनी उपासना को भी लौकिक जीवन के क्षेत्र में उतार लाते हैं, जहाँ उनका वस्तुतः सुस्थिर बना रहना बहुत कम संभव समझा जा सकता है। फिर भी इतना स्वीकार कर लेना कदाचित् अनुचित न कहा जाय कि रसिक संप्रदाय के अनेक महात्माओं ने इन जैसी कठिनाइयों पर विजय पाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली होगी और अपने आध्यात्मिक चिंतन एवं प्रत्यक्ष आचरण में उन्होंने उनमें वास्तविक सामंजस्य भी ला दिया होगा।

स्वामी अग्रदास जी के समय अर्थात् विक्रम की १७वीं शताब्दी के अन्तर्गत रामोपासकों के रसिक संप्रदाय का विशेष प्रचार आरंभ हुआ। उस काल में इसे इतनी सफलता मिली कि स्वयं 'अग्रअली' के ही एक शिष्य जयपुर के महाराज मानसिंह के प्रभाव में आकर मुगल बादशाह अकबर तक ने चित्रकूट विहारी राम सीता के एक चित्र को अपनी कतिपय मुद्राओं पर अंकित कराया। परंतु शाहजहाँ और विशेषकर औरंगजेब के समय में जब सांप्रदायिक संघर्षों का अवसर उपस्थित हुआ तो उधर शिथिलता दीख पड़ने लगी। इसके अनुयायियों को अपनी रक्षा के लिए एक बार पुनः संगठन की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया। तदनुसार इस मधुरोपासना के समर्थकों और प्रचारकों को भी अपने कई अखाड़ों का निर्माण करना पड़ गया। कहते हैं कि स्वामी बालानंद (जन्म सं० १७१०) ने इस संप्रदाय के अनुयायियों को भी शस्त्रविद्या की शिक्षा दी और सात अखाड़ों की स्थापना कर इन्हें आत्मरक्षक बनाया। फिर तो मुगल साम्राज्य का पतन हो जाने पर कई परवर्ती शासकों ने इस ओर विशेष रुचि लेना तक आरंभ कर दिया। तब से और विशेषकर अयोध्या से अवध सूबे की राजधानी के लखनऊ में स्थानांतरित हो जाने के समय से रामोपासकों को अपनी उन्नति करने में किसी प्रकार की बाधा का वैसा भय नहीं रह गया, मन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण होने लगा और अखाड़ों को प्रोत्साहन भी मिलने लगा। फलतः अयोध्या रसिकोपासकों का भी सर्वप्रमुख केन्द्र बन गई। इनकी विविध परंपराओं

को वहाँ फूलने-फलने का पूरा अवसर मिला तथा हमें आज भी वह अपने उस पद से किसी प्रकार स्खलित होती नहीं प्रतीत होती।

रामोपासकों के रसिक संप्रदाय का साहित्य बहुत विशाल है और उसमें एक से एक बढ़कर सुन्दर काव्य-ग्रंथ भरे पड़े हैं। शृंगारिक उपासना की पद्धति ने जिस प्रकार उसके अनुयायियों को अधिक प्रसिद्ध नहीं होने दिया, उसी प्रकार इसकी रचनाओं के अन्तर्गत पायी जाने वाली श्रीराम एवं सीताविषयक शृंगारी भावनाओं ने भी इसके प्रकाशन एवं प्रचार में बाधा पहुँचायी। सर्वसाधारण की यह दृढ़ धारणा कि रामावतार का मूल उद्देश्य राक्षसों को नष्ट कर सर्वत्र शांति फैलाना था तथा यह भी कि श्रीराम चक्रवर्ती राजा दशरथ के पुत्र थे जिसके यहाँ सदा विजयोल्लास और ऐश्वर्य-प्रदर्शन को ही अधिक महत्त्व दिया जाता रहा होगा, इस बात की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाने देती थी कि उसमें विलास-प्रियता भी हो सकती है। गोस्वामी तुलसीदास की प्रसिद्ध रचना 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता ने भी इस ओर किसी को उन्मुख नहीं होने दिया। उसके नायक रामचन्द्र का आदर्श महापुरुष होना, उसके प्रत्येक चिंतन और व्यापार में सदा लोक-धर्म और लोक-मर्यादा के समर्थन की प्रवृत्ति का पाया जाना तथा उसके शील के विकास का निरन्तर सामाजिक नियमों की सुसंगठित एवं सुसमृद्ध प्रणालियों में ही प्रेरणा पाना ये कुछ ऐसी बातें थीं जिनकी दृष्टि से विहारशील राम का ध्यान में आना भी कठिन था। परंतु, जब इधर की साहित्यिक खोजों के प्रकाश में हमें बहुत-से ऐसे ग्रंथ भी मिलने लगे हैं जिनकी रचना गोस्वामी तुलसीदास के कुछ पूर्व से ही होती आ रही थी और जिनके महत्त्व को स्वीकार न करने का कोई कारण नहीं हो सकता तो हम इसे निःसंकोच भाव से कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि न केवल हमारी श्रीरामविषयक बद्धमूल धारणा में कुछ सुधार की गुंजाइश है, अपितु यह भी कि रसिक संप्रदाय के जिस साहित्य को हमने उपलब्ध किया है उससे हमारे वाङ्मय की श्रीवृद्धि भी होगी।

कृष्णोपासकों का 'सखी-संप्रदाय'

एक

कृष्ण की उपासना बहुत प्राचीन काल से होती चली आई है और इसे रामोपासना से कहीं अधिक पुरानी बतलाया जाता है। कृष्ण को धर्मोपदेशकों में भी गिना जाता है और यह भी कहा जाता है कि उन्होंने एक विशिष्ट भक्तिमार्ग का प्रवर्त्तन किया था। उनके नेतृत्व में किसी सात्त्वत धर्म का स्थापित किया जाना तथा उनके ही आधार पर 'भागवत संप्रदाय' का प्रतिष्ठित होना भी मान्य रहता आया है। कृष्ण के व्यक्तित्व का एक परिचय हमें 'महाभारत' में मिलता है, जहाँ उन्हें एक समाजनेता एवं राजनीतिज्ञ के रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु वहाँ पर भी, और विशेषकर उनके गीतोक्त धर्म का प्रचारक होने की दृष्टि से उन्हें एक विशिष्ट मत का संस्थापक मानने की प्रवृत्ति होती है। गीतोक्त धर्म की वे न केवल व्याख्या ही करते तथा उसका उपदेश देते हैं, प्रत्युत वे उसके उपास्य भगवान तक स्वयं बन जाते स्पष्ट प्रतीत होते हैं। वहाँ वे अर्जुन का सारथी बन कर हमारे सामने आते हैं और उसका उत्साह भंग हो जाने पर उसे मित्रवत् उपदेश देते हैं। ऐसा करते समय प्रसंगवश इन्हें वहाँ अनेक ऐसी बातें भी कह देनी पड़ती हैं जिनसे वह इन्हें, अंत में अपना आराध्य जैसा तक स्वीकार कर लेता है। वह इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों तथा सुझाये गए मार्ग को भलीभाँति समझकर तदनुसार आचरण करता है और युद्ध में प्रवृत्त होकर विजय भी प्राप्त कर लेता है। अर्जुन कृष्ण का एक अंतरंग सखा है जो इस प्रकार इनके एक दृढ़ भक्त के रूप में भी परिणत हो जाता है। कृष्ण का एक अन्य सखा उद्धव भी है जिसकी चर्चा महाभारत एवं श्रीमद्‌भागवत में अनेक बार की गई दीख पड़ती है जिसके मोह में पड़ जाने पर ये उसे भक्ति का प्रेमात्मक रूप समझा

कर सचेत कर देते हैं और वह भी इन्हें भगवान् के रूप में देखने लगता है। अर्जुन एवं उद्धव में दोनों ही कृष्ण के प्रति सखाभाव रखनेवाले उपासक हैं और इन दोनों का आदर्श, भक्तिमार्ग की दृष्टि से सर्वथा अनुपम कहा जा सकता है। एक भक्त अपने उपास्यदेव को प्रायः अपने से उच्च एवं महान् किसी स्वामी के रूप में देखा करता है और वह उसका सेवक बन जाता है। अपने आराध्य को इसी प्रकार अपने पति के रूप में स्वीकार कर उसके प्रति सतीत्व की भावना प्रतिष्ठित रखने की भी परिपाटी देखी जाती है। इसके सिवाय उसे कभी गुरुवत् पूज्य मानकर श्रद्धा के साथ प्रेमपात्री मानकर प्रेमभाव से तथा दिव्य शिशु के रूप में देखते हुए वात्सल्यभाव के साथ भक्ति प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति भी कभी-कभी काम करती पाई जाती है। परंतु यह कदाचित् कृष्णोपासना की ही एक प्रमुख विशेषता है, जहाँ प्रत्यक्षतः एक ही स्तर के जान पड़ने वाले दो सखाओं में से भी एक दूसरे को परम आराध्य मान लिया करता है।

अर्जुन एवं उद्धव कृष्ण के समसामयिक तथा उनके निकटवर्त्ती सखा कहे गए हैं। ये दोनों इस कोटि के साथी थे जो उनके साथ बराबरी का व्यवहार कर सकते थे तथा प्रायः मनोविनोद में भी भाग ले सकते थे। एक का दूसरे की समय पर सहायता करना उसके साथ किसी भावी कार्यक्रम पर विचार करना तथा कभी-कभी उसकी हँसी तक उड़ाना उनके लिए सदा संभव हो सकता था। कृष्ण ने अर्जुन को अपनी बहन सुभद्रा का हरण कराने में पूरी सहायता दी जिसके कारण उन्हें बलराम का कोपभाजन तक होना पड़ा। उन्होंने उद्धव के ज्ञान का गर्व हो जाने पर, इसे ब्रज की गोपियों के यहाँ भेज कर उनके द्वारा हास्यास्पद बनवाया। इस प्रकार, ऐसी अनेक बातों के होते हुए भी अर्जुन एवं उद्धव ने उन्हें न केवल अपने एक अंतरंग मित्र के रूप में, किन्तु वस्तुतः अपने परम-कल्याणकारी तथा उद्धारक भगवान् के विचार से भी अपनाया और इनकी गणना उनके प्रसिद्ध भक्तों में की गई। इन्होंने एक ऐसा आदर्श रखा जिसका प्रभाव कृष्णोपासना के अधिक प्रचलित हो जाने पर पीछे भी

बहुत पड़ा। इनका सख्यभाव भक्तिमार्ग के लिए उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग सिद्ध हुआ तथा इसके अनेक भेद-प्रभेद तक किये जाने लगे। भक्ति के नवधा प्रकार की चर्चा करते समय 'सख्य' को उसमें आठवाँ स्थान प्रदान किया गया और उसे बहुत-से भक्तों ने अपनी वृत्ति के अनुकूल भी पाया। सख्यभाव सखाभाव से कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत करता है और इसमें इसी कारण सखीभाव का भी समावेश किया जा सकता है। भक्तिभाव के जागृत होने की संभावना केवल किसी इष्टदेव के ही प्रति नहीं हो सकती वह उसके स्त्रीरूप में देवी होने पर भी, हो सकती है। इसी प्रकार भक्त होने का श्रेय भी केवल किसी पुरुष को ही नहीं दिया जा सकता, एक स्त्री भी उसके लिए सर्वथा उपयुक्त हो सकती है।

सख्य शब्द की अभिप्रायगत व्यापकता एवं विशेषता पर विचार करते समय हमारा ध्यान स्वभावतः सखा शब्द के पर्याय समझे जाने वाले कतिपय अन्य शब्दों की ओर भी जाता है जो बंधु, सुहृद एवं मित्र जैसे हो सकते हैं। इन शब्दों के प्रयोग हम कभी-कभी बिना अधिक विचार किये ही कर देते हैं, किन्तु जब इनकी परीक्षा करने लगते हैं तो इनमें कुछ अंतर भी आ जाते हैं। उदाहरण के लिए इनमें से बंधु शब्द जहाँ विशिष्ट बंधन अथवा लगाव की ओर संकेत करता है, वहाँ मित्र शब्द किसी ऐसे व्यक्ति के स्नेहभरे स्वभाव का भी पता देता है। इसी प्रकार सुहृद शब्द जहाँ उसकी सहृदयता की सूचना देता है और उसे अभिमत वा एकमत ठहराने का कारण उपस्थित करता है, वहाँ पर सखा शब्द किन्हीं दो व्यक्तियों के पूर्ण भावगत सादृश्य की ओर भी इंगित करने लग जाता है किसी एक प्राचीन श्लोक द्वारा कहा भी गया है—

> अव्यागसहनो बंधुः सदैवानुगतः सुहृत् ।
> एक क्रियं भवेन्मित्रं, समप्राणः सखा मतः ॥[1]

---

१. सरल बाङ्ला अभिधान (प्रथम भाग, द्वितीय खंड), पृ० ९८३ पर उद्धृत।

और इससे भी हमें अपने उक्त मत का ही समर्थन मिलता है। इस श्लोक के अनुसार बंधु वह है जो वियोग वा पृथकत्व न सहन कर सकता हो, सुहृद उसको कहते हैं जो सदा साथ दिया करे, मित्र वह है जिसका कार्य-कलाप भी एक हुआ करे तथा सखा उसे कहेंगे जो अपने को प्राणवत् एक समान मानता हुआ व्यवहार करें। अतएव, सखा एवं सखी इन दोनों शब्दों के आशय को पूर्णतः व्यक्त करने वाले सख्य शब्द के अन्तर्गत हमें उक्त सभी शब्दों के भाव किसी-न-किसी रूप में आ गए प्रतीत होते हैं और इस दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। विशुद्ध सख्यभाव के जागृत हो जाने पर न केवल दो सखाओं में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रह जाता, अपितु उनके बीच जिस 'संकोचहीन पारस्परिक विश्वास' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है वह स्वयं भी किसी अनुपम एवं अनिर्वचनीय दशा की ही द्योतक है। उसे हम यदि चाहें तो केवल 'दो शरीर, किन्तु एक प्राण' मात्र कहकर भी पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सकते, न उसका कोई यथार्थ मूल्यांकन ही कर सकते हैं।

सख्यभाव का भाव शब्द भी यहाँ पर केवल सत्ता मात्र का ही बोधक न होकर किसी दशा-विशेष को भी सूचित करता है। यह किसी कोरी मानसिक अनुभूति का भी परिचायक नहीं जिसकी चर्चा प्रायः मनोविज्ञान के क्षेत्र में की जाती है। इसका कुछ पता हमें उस कथन द्वारा चलता है, जहाँ इसे 'प्रेम की प्रथमावस्था' बतलाया गया है।[1] यह वस्तुतः उक्त अनुभूति के साथ किसी ऐसी मौन स्वीकृति की ओर भी इंगित करता है जो पूर्वस्थिति में आमूल परिवर्तन ला देती है। भाव की दशा में आये हुए व्यक्ति की वृत्तियाँ पूर्ववत् न रहकर अपनी इष्टवस्तु की ओर उन्मुख हो जाती हैं और उसे पूर्णतया अपनाती हुई इसे और से और कर देती हैं। इस प्रकार सख्यभाव की स्थिति में आनेवाले भक्त का पूरा परिचय भी हम केवल उसकी 'भक्ति' मात्र के ही आधार पर नहीं दे सकते। इसके

---

१. हरि भक्ति रसामृतसिन्धु (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी), पृ० १०२ पर उद्धृत। "प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।"

लिए हमें उसकी उन मनोवृत्तियों का यथावत् स्वरूप भी समझ लेना पड़ता है जो उसके अपने इष्टदेव में रमी रहती हैं। सख्यभाव की भक्ति में, भक्त एवं भगवान दोनों के एक सामान्य स्तर पर ही आ जाने से किसी प्रकार के भेद-भाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठा करता। दोनों के पारस्परिक प्रणय की स्थिति ऐसी रहा करती है जिसमें एक ओर जहाँ अपने से बड़े के प्रति श्रद्धाभाव प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त कर लेना असंभव नहीं रहता, वहाँ अपने से छोटे के प्रति स्नेहभाव का प्रकट करना भी कभी कठिन नहीं हो पाता। वास्तव में यहाँ पर जिस प्रकार भक्त भगवान को भजा करता है, उसी प्रकार स्वयं भगवान भी भक्त के भजन में लग जाता है। इस भक्त की दशा की समानता यदि कोई अन्य प्रकार की भक्ति कर सकती है तो वह नवीं अर्थात् 'आत्म निवेदन' की ही भक्ति हो सकती है। आत्मनिवेदन की दशा में भक्त अपना सभी कुछ भगवान् के प्रति अर्पित करता हुआ दीख पड़ता है, जहाँ सख्य की स्थिति में उसे इसे ऐसी कोई वस्तु देने को ही नहीं रह गई रहती जो अपनी कही जा सके। स्वयं दोनों ही एक दूसरे के अपने रहा करते हैं। आचार्य रूप गोस्वामी ने इन दोनों को ही एक साथ 'दुष्कर' एवं 'विरल' भी बतलाया है।[1]

कृष्णोपासना वाले भक्त अपने इष्टदेव को स्वयं परमात्मा रूप समझते हैं और उन्हें सखा भी कहते हैं। यह सखा कहने की परिपाटी कुछ नयी नहीं है और इसके कुछ उदाहरण हमें प्राचीन वैदिक साहित्य तक में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर परमात्मा को 'जीवात्मा का योग्य सखा" कहा गया है।[2] वहीं अन्यत्र उसे संबोधित करते हुए यह भी कहा गया है कि "हे प्रभो, हे अग्ने, तुम्हीं हमारे प्रिय हो, मित्र हो और तुम्हीं सखाओं के लिए स्तुति के योग्य सखा भी हो।"[3] उससे वहाँ पर

---

१. वही, "दुष्करत्वेन विरले द्वे सख्यात्मनिवेदने" ॥३९॥ पृ०६९

२. इन्द्रस्य युज्यः सखा (ऋ० १-७-१२)

३. त्वं जामिर्जनाना मग्ने मित्रोऽसि प्रियः।
सखा सखिभ्य ईड्यः (ऋ० १-७५-४)

यह भी प्रार्थना की गई है कि उसकी कृपा द्वारा हम सखाभाव प्राप्त करने में समर्थ हो सकें। कहते हैं—"हे प्रभो, श्रेष्ठ ऋचाओं द्वारा श्रेष्ठ गान गानेवाले हम भक्त दिव्य शक्ति की रक्षा करते हुए तेरे आनंद से आनंदित हों और सखाभाव भी प्राप्त करें।"[१] वैदिक ऋषियों को इस बात में पूर्ण विश्वास है कि जो परमात्मा को सखा रूप में वरण कर लेता है वह पवित्र बन जाता है। उनका कहना है, "जीवात्मा जब तुम्हारे सखाभाव को प्राप्त कर लेता है तो पवमान प्रभु उसके अंतःकरण को पवित्र एवं आनंदित कर देते हो।"[२] इतना ही नहीं, उनकी यह भी धारणा है कि कोई उस शक्तिमान प्रभु को अपने प्रत्येक यज्ञकार्य द्वारा सखा बना लेता है वह फिर कभी कोई पाप नहीं कर सकता, वह पवित्र त्यागी एवं ज्ञान से प्रदीप्त हो उठता है।"[३] इसी प्रकार 'मुण्डकोपनिषद्' के एक स्थल पर जीवात्मा एव परमात्मा दोनों को पक्षी रूप में वर्तमान आपस में सखाभाव रखने वाला भी कहा है। वहाँ पर कहते हैं—"एक साथ रहने वाले दो पक्षी जो परस्पर एक दूसरे के प्रति सखाभाव रखते हैं दोनों एक ही वृक्ष का आश्रय लेते हैं, किन्तु उन दोनों में से एक अर्थात् जीवात्मा तो उस वृक्ष के कर्म फलों का स्वाद लिया करता है और दूसरा अर्थात् परमात्मा उसे नहीं खाता, प्रत्युत केवल देखता मात्र रहा करता है।"[४] अतएव,

---

१. पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः।
सखित्वमा वृणीमहे। (ऋ० ९-६१-४)।

२. न पापासो मनामहे नारायाणे न जल्हवः।
यदिन्नु इन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणनाम हे। (ऋ० ८-६१-११)

३. य उदीचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम।
त्वा स्तोषामत्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
(ऋ० १-५३-११)

४. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य, नविन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥
—मुण्डकोपनिषद्, तृतीय मुण्डक, प्रथम खण्ड

भक्त एवं भगवान के बीच स्थापित सख्यभाव का सम्बंध, प्राचीन परंपरागत होने के भी कारण, कुछ विशेष महत्त्व रख सकता है।

दो

परन्तु भक्तिमार्ग के उदय एवं विकास का इतिहास देखने से पता चलता है कि भगवान् वा उपास्यदेव का रूप सदा एक-सा ही बना नहीं रहा, प्रत्युत उसके व्यक्तित्व के सम्बंध में कुछ महत्वपूर्ण कल्पनाएँ भी की जाने लगीं। पहले वह चाहे विष्णु, शिव अथवा अन्य किसी भी प्रकार का रहा हो वह केवल एक पुरुष मात्र ही समझा जाता था। उसकी भावना के साथ किसी स्त्रीभाव का भी संयोग आवश्यक नहीं था। कुछ तो परंपरानुसार विकसित होती गई शिव-शक्ति विषयक धारणा के कारण तथा उसी प्रकार, कतिपय वैदिक देवताओं के सम्बंध में उत्तरोत्तर बदलती गई कल्पनाओं के कारण भी, क्रमशः उसे केवल एक के स्थान पर युगल का रूप देने की भी प्रवृत्ति हो चली। कहते हैं कि वैदिक युग के इंद्रदेव अपनी प्रार्थना करने वाले को सदा अन्न एवं जल दिया करते थे जिसे 'इरा' वा 'इला' कहा जाता था। इसी कारण, उन्हें इसका स्वामी समझा जाता था तथा इसे ही पीछे धन माने जाने लगने पर वे संपत्ति वा श्री के भी स्वामी कहे जाने लगे। 'विष्णु पुराण' के अनुसार इंद्रदेव का अधिकार फिर इस श्री वा लक्ष्मी पर से दुर्वासा के शाप से छिन गया और जब समुद्र-मंथन के अनन्तर उसका पुनर्जन्म हुआ तो उस काल तक सर्वश्रेष्ठ देव बन गए विष्णु ने उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया।[1] ये विष्णु ही उन दिनों वैष्णवधर्म के सर्वप्रमुख उपास्यदेव हो रहे थे, इस कारण उनके कृष्णादि अवतारों की पूजा की परंपरा चल निकलने पर, फिर उन्हीं के अनुकरण में इन देवताओं की भी पत्नियों के विषय में कल्पना की जाने लगी। इस धारणा को सांख्य के इस

---

१. बी० के० गोस्वामी : दि भक्ति कल्ट इन ऐंश्येंट इंडिया, (कलकत्ता, १९२२ ई०), पृ० १०४

दार्शनिक सिद्धांत से भी बहुत समर्थन मिला कि सृष्टि के आदि में पुरुष एवं प्रकृति नामक दो तत्व विद्यमान थे और इन दोनों की संयुक्त क्रिया द्वारा ही विश्व का उदय एवं विकास हुआ करता है। वास्तविक कारण जो भी रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि उपास्यदेव कृष्ण का रूप आगे चलकर राधाकृष्ण में परिणत हो गया। इसी प्रकार की धारणा न केवल विष्णु के नारायण वा लक्ष्मी नारायण होने तथा राम के सीताराम बन जाने में दीख पड़ी, प्रत्युत यह भी समझा जाने लगा कि इनमें से किसी भी पुरुषदेव का पूर्ण रूप उसके पत्नीपरक अंश पर ही संभव हो सकता है।

यह कृष्ण के साथ संयुक्त समझी जाने वाली राधा कौन थी इस विषय में अनेक प्रकार के अनुमान किये गए हैं। कुछ लोगों ने तो उसे कृष्ण की ही भाँति ऐतिहासिक वा कम से कम पौराणिक रूप ही देने की चेष्टा की है। किन्तु दूसरों ने उसके विषय में कल्पना की है कि वह कोई लोक-परंपरा द्वारा स्वीकृत कर ली गई नारी थी जो लोकगाथाओं के माध्यम से आभीर जाति के साथ कहीं बाहर से आयी थी। उसे वे यहाँ संयोगवश कृष्ण की स्वकीया पत्नी भी स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत उसे वे परकीया का ही पद प्रदान करते हैं। परंतु इतना मान लेने में कभी कोई भी आपत्ति नहीं करता कि वह उनकी सर्वप्रमुख प्रेमपात्री थी। जितना प्रेम उसकी ओर से कृष्ण के प्रति प्रदर्शित कराया जाता है उससे कम कभी इनकी ओर से भी उसके प्रति नहीं दिखलाया जाता। दोनों का पारस्परिक सम्बंध इस विलक्षण ढंग से चित्रित किया जाता है मानो दोनों का एक दूसरे से वियुक्त होना कभी संभव ही नहीं हो। इन दोनों के पारस्परिक सम्बंध में कभी-कभी यह भी कहा जाने लगा कि राधा वस्तुतः कृष्ण से भी श्रेष्ठ है। यही वह परम शक्ति है जिसके आधार पर कृष्ण सब कुछ करने में समर्थ है और जिसके बिना उनके द्वारा कुछ भी नहीं किया जा सकता। तदनुसार कृष्ण को उपास्यदेव के रूप में स्वीकार करने वाले भक्तों के सामने जब उनके प्रति अपने किसी न किसी उपासक सम्बंध के स्थापित करने की समस्या आयी तो वे स्वभावतः उसपर

कुछ अधिक विचार भी करने लग गए। कृष्ण को अपना स्वामी मानकर उनकी प्रेयसी वा अर्द्धांगिनी को स्वामिनी स्वीकार कर लेना तो कठिन नहीं था, किन्तु जहाँ उनके साथ किसी भक्त के दाम्पत्य भाव को स्वीकार करने का प्रश्न आता, वहाँ राधा उसकी सपत्नी कहीं जा सकती थी। इसी प्रकार जहाँ सख्यभाव की स्थिति आ जाती, वहाँ पर भी कुछ न कुछ कठिनाई का ही सामना करना पड़ता था। इस दूसरी दशा में ही सखाभाव से कहीं अधिक उपयुक्त सखीभाव समझा जाने लगा और उसे ही पीछे अनेक भक्तों ने अपनाया।

कृष्णावतार को सदा लीलावतार अथवा लीला पुरुषोत्तम भी कहने की परिपाटी है, जहाँ राम के अवतार को उसी प्रकार, मर्यादावतार अथवा मर्यादा पुरुषोत्तम भी कहा करते हैं। इसी के अनुसार इन दोनों के चरित्रों का वर्णन भी किया जाता है। कृष्ण के लिए कहा गया है कि उनका जन्म मथुरा में हुआ था उन्होंने गोकुल में बाललीला की तथा वृंदावन में रासलीला जैसी विनोद पूर्ण लीलाओं को किशोरावस्था में कर चुकने के अनन्तर उन्होंने अपना शेष जीवन द्वारका में व्यतीत किया। उनके भक्तों के लिए यों तो उनकी सभी लीलाओं का गान अत्यंत प्रिय है, किन्तु वे विशेषकर उनकी वृंदावन वाली लीलाओं को ही अधिक महत्त्व देते हैं और उन अवसरों पर किये गए उनके विविध कृत्यों को स्मरण कर उनका गुणानुवाद किया करते हैं। गोकुल एवं विशेषकर वृंदावन की लीलाओं में ही उन्हें राधा के भी प्रसंग मिला करते हैं जिनसे उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। वृंदावन की विविध लीलाओं में भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रासलीला है जिसमें कृष्ण के साथ अन्य गोपियाँ भी सम्मिलित होती हैं। कृष्ण वहाँ पर वंशीवादन करते हैं जिसका मधुर स्वर श्रवण कर ये गोपियाँ अपने-अपने घरों से निकल पड़ती हैं। ये उनके निकट पहुँचती हैं और इनके साथ वे रासलीला में प्रवृत्त हो जाते हैं। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार वे ऐसा करते समय ही अचानक अंतर्धान भी हो जाते हैं जिससे गोपियाँ विकल होकर उन्हें ढूँढ़ने लग जाती

है। उन्हें इसी प्रसंग में पता चल जाता है कि हम में से कोई एक विशिष्ट गोपी है जिसके प्रति उनका प्रेम अधिक है। इस गोपी को ही अन्यत्र राधा का भी नाम दिया गया कहा जाता है और यह उनकी चिर-संगिनी का स्थान भी प्राप्त कर लेती है। द्वारका में रहते समय कृष्ण की अनेक पत्नियों के नाम गिनाये जाते हैं और उनमें से विशेष कर आठ को उनकी पटरानी भी बतलाया जाता है। परंतु उनमें से किसी को भी कभी राधा जैसा श्रेय प्रदान नहीं किया जाता, न अर्द्धांगिनी ही स्वीकार किया जाता है।

जिन कृष्णोपासकों का ध्यान उनके अकेले व्यक्तित्व की ही ओर विशेष रूप से रहा करता है उनकी तो बात ही और है, जिन्होंने राधा के स्थान पर उनकी चिरसंगिनी को रुक्मिणी का रूप दिया है उन्हें भी प्रायः राधा-तत्व की विशेषताओं का कभी भान नहीं हो पाता, न वे कभी इसके रहस्य को भलीभाँति समझने में ही समर्थ हो पाते हैं। रुक्मिणी कृष्ण की परिणीता पत्नी है और यह उनका साथ उस समय देती दिखलायी जाती है, जब उनका जीवन किसी गृहस्थ-सा रहा करता है। वे द्वारका के निवासी हैं और वहाँ पर एक विस्तृत परिवार तथा जाति कुटुम्ब वालों के बीच रहा करते हैं। उनका वहाँ का प्रत्येक कार्य अधिक-तर प्रपंचात्मक जैसा लगता है और इसी दृष्टि से उसे वहाँ किया गया भी देखा जाता है। उनमें से किसी में भी उस लीलातत्व का कहीं समावेश नहीं रहा करता जो गोकुल अथवा वृंदावन में किये गए कार्यों की विशेषता है। वहाँ पर हमें कभी इस बात का भी पता नहीं चल पाता कि किन-किन कार्यों में और कहाँ-कहाँ तक उनमें रुक्मिणी का हाथ भी हो सकता है। वहाँ की रुक्मिणी अथवा सत्यभामा आदि को भी हम रानी वा पटरानी तक भी कह सकते हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर वे सभी अपने पति राजा कृष्ण से पृथक् रहने वाली तथा उनसे भिन्न नारी रूप में ही विद्यमान जान पड़ती हैं। उनमें राधा-सी वह शक्ति नहीं जिसके द्वारा वे उनकी चिरसंगिनी तथा वास्तविक सहधर्मिणी भी

सिद्ध की जा सकें। राधा चाहे कृष्ण की विवाहिता पत्नी न हों, फिर भी उसका उनके साथ जो सम्बंध है वह नितांत विलक्षण है। इसके लिए किसी वैवाहिक विधि द्वारा प्रामाणिकता का मुहर देना अपेक्षित नहीं। वे दोनों स्वभावतः एक और अद्वय हैं। वे उन कृत्यों में भी एक दूसरे का साथ देते हैं जो सर्वथा निरुद्दिष्ट हैं, जो आनन्द के स्रोत हैं और जिन्हें इसी कारण 'लीला' की संज्ञा दी गई है। द्वारका में रुक्मिणी की कई सपत्नियाँ हैं और उनका एक दूसरे के प्रति द्वेषभाव भी हो सकता है। उन्हें इस बात की सदा चिंता भी बनी रह सकती है कि किसको कृष्ण कितना कम वा अधिक प्यार करते होंगे। परंतु राधा यहाँ पर पूर्ण स्वतंत्र और निश्चिंत है, क्योंकि हजारों गोपियों के बीच भी केवल एक ही राधा है जो कृष्ण के लिए उतनी ही प्रिय है जितने कृष्ण उसके लिए हैं।

तीन

कृष्ण की रासलीला में जिन गोपियों ने उनका साथ दिया था उनके दृढ़ अनुराग एवं आत्मत्याग की बहुत बड़ी प्रशंसा की जाती है। कहा जाता है कि वंशीवादन की ध्वनि के कानों में पड़ते ही उन्होंने सभी कुछ त्याग दिया और कृष्ण के सान्निध्य में आ पहुँचीं। उस समय जो जहाँ थीं, वहीं से ही आतुर होकर दौड़ पड़ीं और उसने इसका भी विचार नहीं किया कि मेरे इस प्रकार के चले जाने का परिणाम क्या होगा। उनके यहाँ अपने से बड़े लोग थे जिनसे उन्होंने कोई अनुमति नहीं माँगी, छोटे थे जिनकी असुविधाओं की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और उनके धन-धान्यादि पूर्ण गृह भी थे जिनकी सुरक्षा की ओर उनकी दृष्टि न जा सकी। वे पगली-सी बनकर कृष्ण के प्रेम में लीन हो गईं और उन्हें उस समय केवल इतना ही सूझ सका कि जिस प्रकार भी हो उनके निकट चला जाना है। फिर वहाँ जाकर भी वे उनसे मिलकर ही अपने घर न लौट सकीं, प्रत्युत, उन्होंने उनका साथ रास-क्रीड़ाओं में दिया तथा उनके अंर्तांहित हो जाने पर उन्हें ढूँढ़ती तक फिरीं। फिर आगे चलकर,

जब कभी इस प्रकार के अवसर उपस्थित हुए, तब उन्होंने वैसा ही व्यवहार किया। उन गोपियों में से किसी को भी हम उनकी विवाहिता वा स्वकीया होने का पद नहीं प्रदान कर सकते, न उनमें से किसी पर भी हम कोरी कामुकता का ही आरोपण कर सकते हैं। वे विभिन्न गोप-गृहों की स्त्रियाँ हैं जिनके साथ कृष्ण का कोई भी प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं और वे उनके लिए परकीया मात्र ही हो सकती हैं। परंतु ये उनके प्रति पूर्ण रूप से अनुरक्त हैं और इनका प्रेमभाव उनके प्रति गम्भीर होने के साथ ही सर्वथा निश्चल एवं निर्मल भी कहा जा सकता है। गोपियों के इस अनुपम अनुराग की उत्कृष्टता के ही कारण इसे कभी-कभी 'गोपी-भाव' की एक पृथक् संज्ञा देने की भी परंपरा चली आती है।

जिन कृष्णोपासकों की भक्ति का रूप कांताभाव अथवा दाम्पत्य भाव की हुआ करती है वे गोपीभाव को विशेष महत्त्व देते हैं। ये गोपियों के साथ कृष्ण द्वारा की गई तथा पुराणादि में वर्णित प्रत्येक लीला का मनोयोगपूर्वक चिंतन करते हैं। उसकी मन ही मन अनेक प्रकार की व्याख्या करते हुए अपूर्व रस का आस्वादन करते हैं तथा इस प्रकार की भावनाओं में निरत रहना अपना कर्त्तव्य समझा करते हैं। कांताभाव के भक्तों के लिए गोपियाँ आदर्शरूप हैं, क्योंकि उनमें वे उन सभी गुणों का समावेश पाते हैं जो इसके लिए अनुकरणीय हो सकते हैं। इस सम्बंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि राधा भी मूलतः केवल एक गोपी मात्र है। यह भी उसी प्रकार व्रज की रहने वाली है जिस प्रकार अन्य गोपियाँ हैं तथा यह भी कृष्ण के साथ पहले उसी प्रकार लीलाओं में भाग लेती है, जिस प्रकार दूसरी किया करती हैं। राधा के अतिरिक्त गोपियों में से कतिपय के नाम भी लिये जाते हैं और उन्हें ललिता, चन्द्रावली, विशाखा आदि कहा जाता है। परंतु ऐसी गोपियों के सम्बंध में यह भी बतलाया जाता है कि वे राधा की निकटवर्तिनी सखियाँ थीं और उन्हें इसकी 'सहचरी' का भी पद दिया जाता है। गोपियों का वर्गीकरण, इस प्रकार तीन दृष्टियों के अनुसार किया गया कहा जा सकता है जिनमें से एक

केवल राधा मात्र को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान कर उसे पृथक् वर्ग में रखना चाहती है, दूसरी उसकी सहयोगिनी सखियों को औरों से अलग कर लेती हैं तथा तीसरी के आधार पर अन्य सभी उस कोटि में रख ली जाती हैं जिसे कोई विशेषता न देते हुए हम साधारण मात्र ही कह कर रह जाते हैं। परंतु, उपर्युक्त गोपीभाव के अनुसार हमें इन सभी के ऊपर केवल उनके कृष्ण के प्रति प्रदर्शित अनुराग के दृष्टि से ही विचार करना पड़ता है। अतएव, यदि हम राधा की विशिष्ट स्थिति के कारण उसे हम दूसरी गोपियों से कहीं विलक्षण वर्ग की मानने लग जायँ तो उस दशा में उसके प्रेमभाव को भी केवल किसी सामान्य स्तर का ही समझकर चुप नहीं रह सकते और उसे 'महाभाव' अथवा इस प्रकार की कोई अन्य संज्ञा भी प्रदान कर सकते हैं। कांताभाव के कृष्णोपासकों ने इसी कारण, अपने लिए प्रायः 'महाभाव' का ही उच्चादर्श रखने की अभिलाषा प्रकट की है।

इस महाभाव की व्याख्या करना तथा इसके स्वरूप को यथावत् शब्दों में प्रकट करना अत्यंत कठिन है। इसका वर्णन कदाचित् वही कर सकता है जिसे इसकी अनुभूति हो सकती हो और वह भी संभवतः इसे पूर्णरूप में व्यक्त करने का कोई सुलभ साधन नहीं पा सकता। इसकी अनिर्वचनीयता का अनुमान केवल इस विचार से भी किया जा सकता है कि यह उस प्रेमभाव का उत्कृष्टतम रूप है जिसकी हमें कभी 'ओर-छोर' नहीं मिला करती और जिसके साधारण रूप की गहराई तक को ठीक प्रकार से जाँच पाने में हम अपने को सदा असमर्थ पा लिया करते हैं। प्रेम का एक निकृष्टतम रूप हमें कामभाव की उस मनोवृत्ति में मिला करता है जो साधारण पशुओं तथा लघुजीवों में भी काम करती दीख पड़ती है। उसे हम प्रायः प्राणिवर्गीय मूल प्रवृत्तियों में गिना करते हैं। उसे उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तक ठहराते हैं। हम उसी के कारण तथा उसके आधार पर ही, स्त्री-पुरुष के बीच यौनपरक पारस्परिक आकर्षण का भी अनुमान किया करते हैं। कभी-कभी हम यहाँ तक भी स्वीकार कर लेने से नहीं हिचकते कि अपने समाज के भीतर हमें जो कुछ भी आत्मीयता का

सम्बंध दीखता है उसके मूल में केवल वही प्रवृत्ति हो सकती है। उसका मूल बीज शारीरिक है, विकास-पद्धति मानसिक है तथा उसका परिणाम हमें अपने सामाजिक व्यवहारों के बीच तक देखने को मिला करता है। परंतु इस प्रकार की भावना साधारणतः केवल यहीं तक जाकर काम करना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेती है और इससे आगे बढ़ना अनावश्यक समझती है। इस दृष्टि से सोचने वाले प्रायः उन बातों की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया करते जिनका सम्बंध ईश्वरपरक प्रश्नों के साथ रहता है। वे यदि इस प्रसंग को लेकर चलते भी हैं तो वहाँ पूरा मनोवैज्ञानिक चिंतन एवं प्रयोग काम में नहीं लाया जाता। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जो लोग उक्त मत को निर्धारित करने वाले विशेषज्ञ समझे जाते हैं वे धार्मिक वा आध्यात्मिक जीवन को भी साधारण सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अंग मानकर कभी आगे नहीं बढ़ते, न यही समझा करते हैं कि इसका सर्वथा त्याग कर देने पर उनका अध्ययन कभी पूर्ण कहलाने योग्य नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक अनुसंधान का वास्तविक उद्देश्य उन सारे प्रमुख प्रश्नों का उत्तर पाना है जो हमारे साधारण जीवन तक में उठते रहा करते हैं। ये प्रश्न विविध हैं और अनंत-से भी लगते हैं जिस कारण हमें यह कह देने का, कदाचित् कोई भी अधिकार नहीं कि उनके स्वरूप अमुक प्रकार के ही हो सकते हैं अथवा यही कि यदि अमुक प्रकार के ही नहीं हुए तो उन्हें हम विशुद्ध वैज्ञानिक का नाम नहीं दे सकते। ऐसा करना संभवतः विज्ञान की कोई मनमानी सीमा निर्धारित करके उसकी महत्ता को कम कर देने के तुल्य है जो कभी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। विज्ञान का क्षेत्र असीम है, क्योंकि विश्व की समस्याएँ भी अनंत और असीम हैं। यदि यह वस्तुतः विकासशील और प्रगतिमान कहला सकता है तो इसमें भी सन्देह नहीं कि उसके आगे कभी अनेक ऐसी बातें भी आ सकती हैं जो आज के वैज्ञानिकों के लिए कभी स्वप्न में भी संभव नहीं हैं। इसके सिवाय मानव जीवन पर सर्वांग रूप से विचार करते समय

हमें यह भी समझते देर नहीं लग सकती कि उस दृष्टि से देखने पर वस्तुतः दर्शन, विज्ञान, धर्म अथवा किसी भी अन्य इस प्रकार के क्षेत्रों के बीच कोई सीमापरक व्यवधान खड़ा कर देना स्वयं अवैज्ञानिक मार्ग का अपनाना कहला सकता है। सभी ज्ञान-विज्ञान सम्बंधी विद्याएँ एक ही विश्व के रहस्यों के उद्घाटन की ओर यत्नशील हैं, इस कारण उनमें से कोई भी किसी दूसरे से सर्वथा पृथक् रह कर काम नहीं कर सकती, न इसी प्रकार उनमें से किसी एक को दूसरे के क्षेत्र से अपरिचित बनकर सत्य का पता लगाने में कभी सफलता ही मिल सकती है। देखने में कामशास्त्र एवं अध्यात्मविद्या के बीच महान अंतर जान पड़ सकता है, किन्तु यदि उनमें से दोनों को एक ही सर्वांगपूर्ण जीवन के दो आवश्यक अंगों पर अपने-अपने ढंग से विचार करके उसे समझने के साधन मान लिया जाय तो वस्तुतः कोई भी हानि नहीं हो सकती। आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देने वाले बहुत से लोगों ने तो अपनी ईश्वर वा ब्रह्मपरक अनुभूति का परिचय देते समय, उसे सम्भोगानंद अथवा कम से कम तदनुकूल मनोवृत्ति की चर्चा करते समय, उसे किसी कामुक की कामासक्ति के क्षेत्र में लाकर ही स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिए बृहदारण्यकोपनिषद के ऋषि ने प्राज्ञात्मा वा परमात्मा विषयक अनुभूति का वर्णन करते समय उसे प्रियतमा के आलिंगन जनित आनंद का दृष्टांत देकर समझाया है[1] तथा गोस्वामी तुलसीदास के भी अपने राम के प्रति प्रेम का किसी कामी के नारि-प्रेम के सदृश होना कहा है।[2]

अतएव, यदि विषय सुलभ कामभाव को हम प्रेमतत्त्व का भौतिक मूलबीज एवं स्थूलरूप मानकर चलें और उसके क्रमिक मानसिक विकास जनित सूक्ष्मतर रूपों पर दृष्टि डालते हुए आगे बढ़ सकें तो इसमें आश्चर्य

---

१. तद्यथा प्रियया स्त्रिया परिष्वक्तो...अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो इ० (४-३-२१)

२. कामिहि नारि पियारि जिमि...तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।—मानस (उ० का०)

नहीं कि हमें उसके उस आध्यात्मिक रूप का भी कुछ न कुछ परिचय मिल जाय जिसकी कल्पना महाभाव की संज्ञा देकर की जाती है और जिसे उसकी परिस्थिति की भिन्नता के कारण हम कुछ और समझ लेते हैं। प्राथमिक वा प्रारम्भिक कामभाव तथा उस अंतिम महाभाव के बीच अनेक स्तर हो सकते हैं और विभिन्न उपादानों तथा अवस्थाओं के अनुसार, वे क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होते चले जा सकते हैं। किन्तु उनके मूलतः एक होने में किसी प्रकार का सन्देह करने की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती, न उसके किसी धार्मिक जैसे क्षेत्र में जा पड़ने से उसकी वैज्ञानिक दृष्टि से उपेक्षा ही की जा सकती है। क्षुद्र प्राणियों तथा पशुओं में पायी जाने वाली कामुकता का भाव निम्नतम श्रेणी का समझा जा सकता है। वहाँ पर प्रेमतत्व के काम से प्रकट होने वाली मनोवृत्ति का प्रायः सर्वथा अभाव रहा करता है। कम से कम यह कभी-कभी तथा स्वल्प मात्रा में ही दीख पड़ता है। परंतु मानव जाति के पुरुष एवं स्त्री में उपलब्ध होने वाले वैसे मनोविकार के विषय में भी हम ठीक इसी प्रकार नहीं कह सकते। यहाँ पर उसमें उतनी सहजवृत्ति का तत्त्व नहीं रह जाता। वह मानव समाज के अन्तर्गत काम करने वाले लज्जा, संकोच, आभिजात्य जैसे विभिन्न भावों द्वारा मर्यादित और सौन्दर्यबोध, कर्त्तव्यज्ञान तथा अन्य अनेक उच्चतर भावों द्वारा परिष्कृत भी होकर क्रमशः अपेक्षाकृत अधिक मानसिक रूप ग्रहण कर लिये रहता है जिस कारण उसका स्तर बहुत कुछ ऊँचा हो जाता है। एक मनुष्य के लिए उसकी पत्नी केवल भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती, प्रत्युत वह उसकी संगिनी तथा सहधर्मिणी तक बन जाती है। इसी प्रकार वह अपने समाज के भीतर जिस आत्मीयता का अनुभव करता है वह कभी-कभी निःस्वार्थ भाव से भी उत्पन्न होती है। तदनुसार हमें यहाँ पर यह भी दीख पड़ता हो कि जो मनुष्य जितने ही उच्चकोटि के समाज का सदस्य होता है उसकी भावना प्रायः उतने ही उच्च स्तर पर प्रश्रय पाती हुई जान पड़ती है और उसका स्वभाव उत्तरोत्तर प्रकार से उदारतर बनता चला जाता है। फलतः उसकी आत्मीयता का

भाव भी जो प्रत्यक्षतः प्रेमतत्त्व पर ही आश्रित रहता है अपना क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत करता चला जाता है। इस बात की पूरी संभावना भी हो जाती है कि वह एक दिन विश्वात्मक तक बन जाय। हम इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मूल रूप में पाये जाने वाले कामभाव का उत्तरोत्तर उदात्तीकरण होता जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी कारण उसके जिस अंतिम रूप की हम कल्पना कर सकते हैं वह उपर्युक्त महाभाव का भी हो सकता है। धार्मिक वा आध्यात्मिक क्षेत्र की बात होने के कारण मात्र से ही, हमें इसे कोरा कपोल कल्पित मानकर टाल देना न तो उचित है, न वैज्ञानिक ही।

जिस आध्यात्मिक दशा को महाभाव कहा जाता है उससे मिलती-जुलती मनःस्थिति के ही किसी भाव को सख्यभाव के अनुसार उपासना करने वाले कृष्णभक्तों ने सखीभाव की संज्ञा दी है और उसे अपनी दृष्टि से सर्वोपरि स्थान भी प्रदान किया है। यह सखीभाव क्या है? यह साधारणतः समझ लेने की परंपरा दीख पड़ती है कि भक्तों द्वारा अनुभूत कांताभाव वा दाम्पत्यभाव, गोपीभाव, महाभाव तथा सखीभाव सभी मूलतः एक ही हैं और उनमें किसी प्रकार का अंतर ढूँढ़ने का प्रयास करना आवश्यक नहीं है। इनमें वास्तव में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं हो सकता, किन्तु यदि इनकी तुलना इन्हें पृथक्-पृथक् स्वीकार करने वाले भक्तों के ही अनुभवानुसार की जा सके तो न केवल इनके स्वरूपों का पता चले, अपितु इनमें अन्तर्हित रहस्य भी खुल सकें और हम इनकी धार्मिकता द्वारा आच्छादित तत्व की झाँकी भी पा सकें। कांताभाव अथवा दाम्पत्यभाव उस मनोवृत्ति को कह सकते हैं जिसे अपनाकर कोई भक्त अपने इष्टदेव को पतिवत् मानने लग जाता है और तदनुसार अपने को उसकी पत्नी के रूप में समझते हुए उसकी उपासना में प्रवृत्त हुआ करता है। इस प्रकार परमेश्वर को अपने पति के रूप में स्वीकार कर लेने का यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि वह किसी भक्त के लिए साधारण सामाजिक दृष्टि के अनुसार किसी विवाहित पुरुष का रूप धारण कर ले तथा यह उसकी भार्या बनकर

व्यवहार करने लगे। उसका वास्तविक अभिप्राय केवल इतना ही मात्र है कि यह उसे ऐसे दृढ़ानुराग के साथ अपना मान ले जैसे कोई सती पत्नी अपने पतिदेव को मान लेती है। यहाँ पर प्रश्न केवल प्रेमभाव की उस पर्याप्त मात्रा का ही है जो पति-पत्नी भाव में दीख पड़ती है, दोनों का बाह्य सम्बंध केवल गौण है। इसी प्रकार हम गोपीभाव के लिए भी कह सकते हैं कि इस प्रकार की मनोवृत्ति की भी कल्पना केवल पौराणिक दृष्टांतों के ही आधार पर की गई है और समझ लिया गया है कि गोपी-भाव वाले भक्तों की मनोवृत्ति का रूप उस आदर्श प्रेमभाव जैसा हो सकता है जिसे श्रीमद्भागवत् आदि पुराणों में वर्णित रासलीलादि में भाग लेने वाली व्रजांगनाओं का था और वह इसी कारण, अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का होगा। यहाँ पर भी किसी भक्त के लिए गोपी रूप में परिणत हो जाना वैसे ही आवश्यक नहीं जैसे कांताभाव के उपासक के लिए कहा जा सकता है। यहाँ पर भी उक्त गोपीभाव शब्द प्रेमभाव की अधिक मावा मात्र को ही स्पष्ट करने के लिए व्यवहृत किया गया है।

हम इसी के अनुसार महाभाव शब्द की भी व्याख्या कर सकते हैं और कह सकते हैं कि यहाँ पर भी उक्त वर्णनशैली ही काम करती है। यहाँ पर केवल इतनी ही अधिक कठिनाई पड़ सकती है कि इसके आदि में लगा हुआ महा शब्द उपर्युक्त कांता अथवा गोपी जैसे शब्दों-सा किसी स्पष्ट वस्तु की ओर निर्देश नहीं करता, प्रत्युत प्रत्यक्षतः भाव शब्द के अर्थ को केवल अधिक गम्भीर मात्र बना देता है। परंतु, यदि महाभाव शब्द के प्रयोगों पर उसकी प्रासंगिक दृष्टियों से विचार करें तो पता चलेगा कि यहाँ पर भी उसका अभिप्राय वैसा अस्पष्ट नहीं जैसा हम प्रायः समझ लिया करते हैं। यहाँ वह केवल उस मनोवृत्ति का परिचायक है जो राधा की कृष्ण के प्रति अपने प्रेमभाव की अनुभूति करते समय रही होगी तथा जो इसी कारण सर्वाधिक गूढ़ और महान भी कहला सकती है। राधा कोई साधारण प्रेमिका नहीं है, न उसका सम्बंध कृष्ण के साथ केवल उन्हें एक साधारण प्रेमपात्र मान कर ही निर्मित है। यदि कृष्णोपासकों

की धारणा के अनुसार विचार किया जाय तो वे दोनों ही तत्त्वतः एक और अभिन्न हैं जिस कारण दोनों के पारस्परिक प्रेमभाव की कल्पना करते समय हमें उसे उस रूप तक का मान लेना पड़ सकता है जो परमादर्शतः संभव हो सकता है। फलतः महाभाव की मनोवृत्ति के साथ उपासना करने वाले कृष्णभक्त को उसके लिए सर्वप्रथम राधाभाव में आ जाना भी आवश्यक हो सकता है जो स्वयं अत्यंत कठिन और दुरूह कहा जा सकता है और जो इसी कारण, उक्त मनःस्थिति को और भी ऊँची बना देता है। प्रत्यक्ष है कि यहाँ पर भी कोई भक्त अपने को राधा जैसी स्थिति में ही डालकर महाभाव का अनुभव कर सकता है। उसके जीवन में राधा जैसा व्यवहार करने की मनोवृत्ति आ सकती है, किन्तु वह इसके कारण स्वयं राधा ही नहीं बन जाया करता।

यह महाभाव भी राधा के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध होने के कारण, कांताभाव अथवा गोपीभाव का ही एक स्तर विशेष हो सकता है और इसके लिए भी हमें अन्य प्रकार से किसी पुरुष एवं स्त्री के ही पारस्परिक प्रेम सम्बंध की कल्पना करनी पड़ सकती है। परंतु सखीभाव के लिए ऐसी बातों का होना अनिवार्य नहीं, न इसे केवल कांताभाव के ही भीतर सीमित रखा जा सकता है। सखीभाव के उपासक भक्त अपने को कृष्ण की कांता वा प्रिया बनकर ही भक्तिभाव प्रदर्शित करना नहीं चाहते। ये अपने को राधा की उस अंतरंग सहचरी के रूप में मानकर भी चलते हैं जिसके लिए उन दोनों ही प्रेमी-प्रेमिकाओं की कोई भी बात छिपी नहीं है। ये राधा की 'समप्राण' चिरसंगिनी हैं जिसका अभिप्राय सखा वा सखी शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। इनमें एवं राधा में इसी कारण वस्तुतः कोई भेद भी नहीं दिखलाया जा सकता। केवल राधा एवं सखी शब्दों के पृथक्-पृथक् व्यवहार के ही आधार पर उन दोनों में किसी अंतर की कल्पना की जा सकती है जो स्वभावतः अत्यंत सूक्ष्म भी हो सकता है। कृष्ण एवं राधा में तत्त्वतः कोई भी अंतर नहीं है, क्योंकि राधा कृष्ण की शक्ति रूप हैं और वे दोनों एक दूसरे से कभी

पृथक् नहीं किये जा सकते जिस प्रकार चन्द्र की चाँदनी नहीं की जा सकती, न जिस प्रकार हम किन्हीं दो अभिन्न पदार्थों के ही विषय में कह सकते हैं। परंतु किसी भक्त एवं भगवान् के पारस्परिक सम्बंध के विषय में भी हम ठीक इसी प्रकार का वर्णन नहीं कर सकते, न राधा की सखी होने मात्र से ही हम उसे इनसे सर्वथा अभिन्न मानकर कोई कल्पना कर सकते हैं। जिस प्रकार भक्त एवं भगवान को केवल भक्तिभाव प्रदर्शन की दृष्टि से ही सही, किसी रूप में पृथक् मान लेने की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार हमें राधा एवं उसकी सखी की भी लगभग उसी प्रकार एक दूसरे से पृथक् कल्पना करना उपयुक्त होगा। अतएव, सखीभाव का भक्त कृष्ण एवं राधा के उपर्युक्त एक एवं अभिन्न रूप की उपासना उनके अत्यंत निकटवर्ती आत्मीय का भाव ग्रहण करके ही कर सकता है।

यहाँ पर एक प्रश्न इस रूप में भी उठ सकता है कि यदि कोई भक्त उपर्युक्त कांताभाव, गोपीभाव, महाभाव अथवा सखीभाव की दृष्टियों से अपने भगवान की उपासना करता है तो उसके द्वारा प्राप्त होने वाले उसके आनंद का स्वरूप क्या हो सकता है? क्या वह इनमें से किसी के भी द्वारा स्वयं आनंदित हो उठता है और इस प्रकार उसका उद्देश्य मूलतः स्वार्थपरक ही हुआ करता है? कांताभाव, गोपीभाव तथा महाभाव के विषय में तो हम यह प्रायः निर्विवाद रूप से भी कह सकते हैं कि यदि उनकी मूल प्रवृत्ति किसी पति एवं पत्नी विषयक प्रेम के ही समान हो तो वह न्यूनाधिक स्वसुखपरक ही हो सकती है। यह एक दूसरी बात है कि कोई सती साध्वी पत्नी अपने पति को सुखी देखकर ही अपने को सुखी माने और उसको दुखी देखकर स्वयं भी उसी प्रकार के दुख का अनुभव करने लग जाय जिस प्रकार के दुख में उसका प्रियतम निमग्न हो। प्रमुखता केवल इसी भावना को दी जा सकती है कि ऐसा करने पर भी उसे अपने निजी सुख वा दुख का बोध हुआ करता है। परंतु सखीभाव की उपासना करने वाले भक्तों के विषय में भी हम सहसा ठीक इसी प्रकार का परिणाम नहीं निकाल सकते। सखीभाव के उपासक के लिए सर्वप्रथम

विचार उसके राधा के प्रति अपने अंतरंग सम्बंध का हो सकता है जिसे वह वस्तुतः अपना माध्यम बनाकर ही चल सकता है तथा जिसके कारण उसकी अनुभूति किंचित् भिन्न रूप भी ग्रहण कर सकती है। यहाँ पर मौलिक प्रेमभाव की स्थिति का होना यथार्थतः कृष्ण एवं राधा के ही बीच अधिक संभव है जिस कारण भक्त का भाव भी ठीक वही नहीं हो सकता। वह अधिक से अधिक उस भाव पर आश्रित कहा जा सकता है जिस कारण स्वभावतः तत्परक भी बन जाता है। सखीभाव के भक्तों ने इसी लिए इसका परिचय तत्सुखी अथवा कृष्ण एवं राधा के पारस्परिक आनंद पर आधारित सुख के रूप में देना ठीक माना है। इसके विपरीत भाव को वे साधारणतः स्वसुखी का विशेषण देकर उसे तत्सुखी से किंचित् नीचे स्तर का बतलाया करते हैं।

कृष्ण एवं राधा के पारस्परिक प्रेमभाव की परिस्थिति वा वातावरण की कल्पना करते समय सखीभाव के उपासकों ने किसी ऐसी स्थिति की ओर निर्देश किया है जो उन दोनों प्रेमियों के नित्यविहार की दशा कही जा सकती है। इसके लिए उन्होंने कृष्ण की उन ब्रजलीलाओं के समानान्तर में जिनका वर्णन श्रीमद्भागवत जैसे पुराणों में किया गया मिलता है नित्य वृंदावन की कल्पना की है, जहां उन्होंने दोनों दिव्य प्रेमी प्रेमियों के शाश्वत-रूप में विराजते रहने के साथ-साथ उनकी अंतरंग सखी के रूप में विद्य-मान तथा उन्हें यथोचित सुविधाएँ प्रदान करने वाली परिचारिका की दशा में स्वयं अपने को भी दिखलाया है। नित्यविहार की अवस्था के लिए उनके अनुसार इन चारों ही का होना अत्यंत आवश्यक है। कृष्ण के पौरा-णिक लीला विहारों में हम केवल वृंदावन, कृष्ण एवं राधा अथवा गोपी-गण की ही कल्पना कर सकते हैं। वहाँ पर यदि किसी चौथे अंग को स्थान दिया जा सकता है तो वह वहाँ की गोपियों में से ही कोई एक या उससे अधिक उनकी दूती के रूप में हो सकती है। इसके अतिरिक्त उस प्रकार की कल्पना किसी भौतिक वनस्थली तथा किसी पुरुष वेशधारी कृष्ण एवं स्त्री रूपधारिणी राधा तथा यदि हो सका तो किसी वैसी ही गोपी सखी

के सम्बंध में भी अनुमान कर ले सकते हैं। परंतु नित्यविहार की दशा में हमें ऐसे किसी भौतिक तत्व का अध्याहार करने की कोई वैसी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यहाँ कृष्ण केवल वे अवतार के रूप वाले कृष्ण नहीं जिनकी चर्चा पुराणों में की गई मिलती है, न राधा एवं वृन्दावन तक भी वे ही हैं। ये सभी यहाँ पर अभौतिक रूपधारी हैं जिनमें से कृष्ण परमतत्व स्वरूप हैं, राधा उनके अभिन्न अंग स्वरूप हैं, वृन्दावन उस अखिल विश्व रूप की ओर संकेत करता है जिसके परे अन्य किसी तत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वयं सखी को भी हम इनमें से किसी से भिन्न नहीं ठहरा सकते, न इसके विषय में सिवाय इसके कुछ और ही कह सकते हैं कि केवल सुविधा के लिए इसे जीवात्मा नाम दे रखा है।

पाँच

सखीभाव के इस रूप को अपनाकर सर्वप्रथम भक्तिपथ पर अग्रसर होने वाले स्वामी हरिदास कहे जाते हैं। स्वामी हरिदास के जीवनवृत्त का कोई निश्चित पता नहीं चलता और ,उनके जन्म-संवत् एवं जन्म-स्थान तक के विषय में अभी मतभेद जान पड़ता है। नाभादास ने अपनी 'भक्त-माल' में इनकी चर्चा करते हुए लिखा है--

> आसुधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की ॥
> युगल नामसों नेम जपत नित कुंज विहारी।
> अवलोकत रहे केलि सखी सुख के अधिकारी ॥
> गान कला गंधर्व स्याम स्यामा को तोषें।
> उत्तम भोग लगाय मोर मर्कट तिमि पोषें ॥
> नृपति द्वार ठाढे रहें दरसन आसा जास की।
> आसुधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की ॥

जिससे पता चलता है कि स्वामी हरिदास किसी आसुधीर नामक व्यक्ति की कीर्ति बढ़ाने वाले थे और उनकी पदवी 'रसिक' की थी। वे कुंज-

विहारी कृष्ण का नाम युगल रूप अर्थात् राधाकृष्ण के रूप में जपा करते थे और उसकी केलि का ध्यान सदा सखीभाव के साथ किया करते थे। वे संगीत की कला में प्रवीण थे तथा उसके द्वारा राधा एवं कृष्ण को प्रसन्न करने में लगे रहते थे। वे उन्हें उत्तम भोग लगाकर मोर, बंदर जैसे प्राणियों का भी पोषण करते थे तथा उनके दर्शनों के लिए राजा तक लालायित रहा करते थे। परंतु इस छप्पय द्वारा हमें केवल उनका एक साधारण परिचय ही मिल पाता है। इससे किसी ऐतिहासिक तथ्य की भी उपलब्धि नहीं हो पाती। इसके प्रथम शब्द आसुधीर के विषय में कई अन्य भक्तमाल के लेखक बतलाते हैं कि यह उनके पिता का नाम था तथा कुछ के अनुसार यह भी संकेत मिल जाता है कि वे गुर्जर देश के निवासी थे। इसी प्रकार यदि किसी-किसी ने इनकी माता का नाम गंगा दिया है तो किसी ने चित्रा तथा यहाँ तक संकेत कर दिया है कि उनके दो भाई क्रमशः जगन्नाथ एवं गोविन्द नाम के भी थे। स्वामी हरिदास की जाति का भी सारस्वत अथवा सनाढच ब्राह्मण होना कहा गया है, किन्तु इनमें सारस्वत का पक्ष प्रबल जान पड़ता है। उनका जन्म-स्थान कोई कोल नामक ग्राम बतलाया गया है जो वर्तमान अलीगढ़ नगर से दो मील की दूरी पर है और जो अब हरिदासपुर भी कहलाता है। कुछ लोग इस प्रसंग में राजपुर का भी नाम लेते हैं। उनका कभी कोई विवाह भी हुआ था कि नहीं इसमें बहुत मतभेद है, किन्तु अधिक संभव है कि वे अविवाहित ही रहे होंगे। प्रचलित परंपरानुसार उन्हें संप्रदाय की दृष्टि से निम्बार्क मत के साथ जोड़ा जाता है और उनके चित्रों में प्रायः तिलक भी मिलता है। परंतु स्वामी हरिदास जी के भक्ति-सम्बंधी सिद्धान्त एवं फुटकर बानियों के आधार पर भी इसकी परिपुष्टि नहीं हो पाती। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अन्य संप्रदायों की अपेक्षा निम्बार्क संप्रदाय के साथ इनका सम्बंध अधिक रहा है और उसके उपलब्ध साहित्य के प्रचुर अंश द्वारा इस बात को स्वीकार भी किया गया है। स्वामी हरिदास के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन को संगीत की उच्च

शिक्षा दी थी और उसी नाते सम्राट अकबर भी उनके दर्शनों के लिए वृंदावन गया था तथा इस विषय को लेकर एकाध चित्रों की रचना भी की जा चुकी है। इन जैसी बातों के आधार पर उनका जीवन-काल संवत् १५३७ से लेकर संवत् १६३५ तक प्रायः मान लिया जाता है जो कदाचित् सत्य से अधिक दूर न कहला सके। स्वामी हरिदास द्वारा रचे गए कुछ हिन्दी पद मिलते हैं जिनकी संख्या लगभग सवा सौ की है और जिनमें 'केलिमाल' नामक संग्रह के ११० पद भी सम्मिलित किये जाते हैं और शेष को फुटकर पदों के अन्तर्गत गिनने की परंपरा चली आती है। इन पदों की रचना पद-रचना शैली के अनुसार नियमित रूप से की गई नहीं प्रतीत होती, प्रत्युत ये अधिकतर गेय गीतों के ही जैसे जान पड़ते हैं। इनकी एक अन्य विशेषता यह भी है कि इनमें आया हुआ कथन कुछ न कुछ संवादपरक-सा भी लगता है।

इन उपलब्ध पदों द्वारा यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि स्वामी हरिदास के इष्टदेव स्वामी वे कुंजविहारी कृष्ण हैं जो नित्य अपनी प्रियतमा श्यामा के साथ केलि वा विहार में निरत रहा करते हैं। दोनों एक दूसरे से कभी पृथक् नहीं हो पाते। जिस निकुंज में इन दोनों का नित्यविहार चला करता है वह 'नित्य वृंदावन' हैं, जहाँ पर उनके विनोद की प्रत्येक सामग्री सदा प्रस्तुत रहा करती है, वहाँ पर विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्र बजते हैं, मधुर गाना होता रहता है तथा नृत्य की भी कमी नहीं रहा करती। दोनों प्रेमियों की नित्य किशोरावस्था है, दोनों परस्पर आमोद-प्रमोद में लीन हैं तथा दोनों के इस रागरंग को ध्यान में लाकर स्वामी हरिदास मगन बने रहते हैं। इनके ध्येय तत्व में वस्तुतः कोई भौतिक नृत्य-गीत नहीं, न उसमें कहीं वैसे निकुंजादि का ही समावेश हो सकता है। उसमें नित्यविहार के अनिवार्य अंग समझे जाने वाले उन चार प्रमुख तत्वों अर्थात् श्यामा, कुंजविहारी नित्य वृंदावन एवं सखी के सम्मिलित सहयोग द्वारा स्वभावतः आविर्भूत नित्यलीला का ही अंश है जो मानसिक अनुभूति का विषय है। स्वामी हरिदास की दृष्टि में वे सभी तत्व एक साथ उपास्य

है, क्योंकि इनमें से किसी को भी हम उस नित्यविहार की भावना से पृथक् नहीं कर सकते। इन सभी के संयोग से ही उस अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि होती है जो लीलारस का आधार है और इस सभी के सहयोग द्वारा उस भाव की अनुभूति भी हो पाती है जिसे सख्यभाव अथवा सखी भाव के नाम से अभिहित किया जाता है। उस भाव के अन्तर्गत ऐसे अनुपम प्रेमरस की अनुभूति है जो नित्य एवं एकरस रहा करता है और जिसमें स्थल विरह की कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वामी हरिदास के लिए इस भक्ति-सिद्धान्त की कोई दार्शनिक व्याख्या देना आवश्यक नहीं था। उन्हें केवल इतना ही चाहिए था कि उस नित्य विहार के भावगत सौन्दर्य का निरन्तर अनुभव करते रहें तथा इसे अपने जीवन का प्रमुख आधार तक बना लें।

वीठलविपुल स्वामी हरिदास के प्रधान शिष्य थे जिन्हें उनका ममेरा भाई होना भी बतलाया जाता है। परंतु वंश-परंपरा के अनुसार इन्हें उनका भतीजा भी कहा गया मिलता है और प्रसिद्ध है कि ये उनके भाई गोविन्द के पुत्र थे। ये स्वामी हरिदास के प्रति अत्यंत गंभीर निष्ठा भाव रखते थे और कहा जाता है कि इन्होंने उनका देहांत हो जाने पर अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली थी। ये बहुत ही उच्चकोटि के रसिक कवि थे और इन्होंने अपनी पंक्तियों में नित्य वृंदावन का विशेष वर्णन किया है। इनके केवल ४० ही पद प्राप्त हैं जिनके आधार पर हम इन्हें अपने संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवियों में भी गिन सकते हैं। वीठलविपुल के शिष्य प्रसिद्ध विहारिनिदास हुए जिन्हें न केवल एक सिद्ध कवि, प्रत्युत संप्रदाय के योग्य सिद्धांत-व्याख्याताओं में भी गिना जाता है। कहते हैं इन्होंने सम्राट् अकबर के यहाँ कुछ दिनों तक नौकरी भी की थी और अब्दुर्रहीमखानखाना के विश्वासपात्रों में भी थे। परंतु इन बातों की कोई ऐतिहासिक पुष्टि नहीं सुनी जाती। कहा जाता है कि संभवतः ये भी स्वामी हरिदास की वंश-परंपरा में ही उत्पन्न हुए थे और एक अलमस्त जीव थे। इनकी उपलब्ध रचनाओं से पता चलता है कि ये बड़े निर्भीक

थे और कबीर की भाँति किसी की कटु आलोचना करने में भी नहीं चूकते थे। इनके वे पद अधिक सरस हो पाये हैं जिन्हें इन्होंने कृष्ण एवं राधा के पारस्परिक आमोद-प्रमोद के सम्बंध में लिखा है, किन्तु इनके सिद्धांत विषयक पद उतनी उच्चकोटि के नहीं हैं।

बिहारिनिदास के शिष्य सरसदास के प्रसिद्ध प्रशिष्य रसिकदास थे जिनके समय में संप्रदाय की शाखाएँ फूट निकलीं। इनकी मृत्यु सं० १७५८ के लगभग हुई थी जिसके पहले इन्होंने अपन कदाचित् सर्वप्रथम शिष्य ललितकिशोरीदास को अपना उत्तराधिकारी चुना, किन्तु उन्होंने इनकी आज्ञा की अवहेलना कर दी और दूसरे शिष्य गोविन्द दास ने भी यही किया। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि रसिकदास की अधिक प्रवृत्ति अपने संप्रदाय में अन्य बातों के समाविष्ट करने की भी दीख पड़ी जिसे उसके अन्य अनेक अनुयायियों ने पसन्द नहीं किया और उक्त दोनों शिष्यों ने दो पृथक्-पृथक् गद्दियाँ स्थापित कर दीं। तब से रसिकदास के स्थान पर पीताम्बर दास बैठे जिनका भी उन्हीं के चलाये मार्ग में विशेष जी लगा और इन्होंने अपने कार्य-काल में अनेक ऐसे व्यर्थ झगड़ों में भी भाग लिया जिससे उस गद्दी की अप्रतिष्ठा हो चली। पीताम्बरदास के ही शिष्य किशोरदास हुए जिन्होंने अपनी पुस्तक 'निजमत सिद्धान्त' द्वारा निम्बार्क संप्रदाय के साथ घनिष्ट नाता जोड़ने का बहुत बड़ा प्रयास किया जिससे स्वामी हरिदास के सखी संप्रदाय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसे पीछे आने वाले बहुत से लोगों ने निम्बार्क संप्रदाय की एक शाखा के रूप में ही स्वीकार करना आरम्भ किया जो वास्तविकता से दूर जाना था। संप्रदाय के वास्तविक इतिहास के जानकारों का कहना है कि इसका संबन्ध यदि किसी अन्य संप्रदाय के साथ समझा जा सकता था तो वह विष्णु स्वामी के संप्रदाय से हो सकता था, निम्बार्क संप्रदाय के साथ कभी नहीं हो सकता था।

रसिकदास के शिष्य ललित किशोरीदास बहुत प्रसिद्ध कवि और आचार्य हुए। उन्हें अपने पद की मर्यादा का भी सदा अभिमान रहा और

कहते हैं कि इसी कारण उन्होंने बादशाह मुहम्मद शाह से मिलने से भी इनकार कर दिया। इनके शिष्य ललित मोहिनीदास हुए जिन्होंने भी अपने गुरु की मान्यताओं को भरपूर निभाया। सखी सम्प्रदाय की यही शाखा पीछे 'टट्टी संस्थान' कहलाकर प्रसिद्ध हुई और इसे इतना महत्त्व मिला कि इसी नाम से लोग उसे भी पुकारने लगे। ललित किशोरीदास ने विपुल साहित्य की रचना की और उनका सं० १८२३ में देहांत हुआ। सखी संप्रदाय के इधर वाले आचार्यों में सबसे योग्य भगवतरसिक जी कहे जाते हैं जिनकी रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से भी कम अच्छी नहीं हैं। इस संप्रदाय के अन्तर्गत उन दिनों इतने प्रपंच बढ़ते जा रहे थे कि भगवत रसिक जी को अंत में, वृंदावन छोड़कर प्रयाग जाना पड़ गया, किन्तु इन्होंने सदा अपने को इन बातों से निर्लिप्त रखा और अपने जीवन-काल के अंत तक अपने मत पर दृढ़ रहे।

इस संप्रदाय के अन्तर्गत कुछ महिलाएँ भी दीक्षित हुई थीं जिनमें से प्रसिद्ध बनीठनी जी महाराज नागरीदास की 'पासवान' वा रखेल थीं। स्वयं नागरीदास जी वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु बनीठनी जी ने रसिकदास से दीक्षा ग्रहण कर ली। इनका देहांत सं० १८२२ में हुआ।

छह

सखी संप्रदाय जिसके प्रवर्त्तन का श्रेय स्वामी हरिदास जी को प्रदान दिया जाता है पहले किसी संगठित रूप में नहीं चला था और जैसा कि अभी देख आये हैं इसमें कुछ ही दिनों के अनन्तर तीन-तीन टुकड़े तक हो गए। इसके सिवाय इसके अनुयायी आचार्यों में से भी केवल कुछ ही ऐसे हुए जिन्होंन पर्याप्त साहित्य की रचना की। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि इस संप्रदाय में कुछ अपनी विशेषताएँ रहीं जिनका दूसरे कई संप्रदायों पर भी स्पष्ट प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। इस संप्रदाय की भक्ति विशुद्ध प्रेम की अनुगामिनी थी जिसे स्वामी हरिदास ने नित्य-विहार के अलौकिक क्षेत्र में अनुभव किया तथा जिसकी व्याख्या करते

समय उन्होंने कुछ-न-कुछ नवीन सुझाव भी उपस्थित किये। इन सभी का सुन्दर निचोड़ भगवतरसिक के 'अनन्यनिश्चयात्म' ग्रंथ में पाया जाता है जो सर्वथा संग्रहणीय है। अनन्यभाव का प्रेम इस संप्रदाय का सर्वस्व है जिसके सामने इसका सच्चा अनुयायी किसी अन्य बात की परवाह नहीं करता। इस प्रेम की दृष्टि से उसे किसी प्रकार के भी विधि-निषेध की मान्यता नहीं है। फिर भी इस उपेक्षाभाव का यह अर्थ नहीं कि वह अपने समाज के हितों के प्रति कोई विरोध भाव को प्रश्रय देता है। इसका भाव केवल इतना ही है कि उस अनन्य प्रेमतत्त्व को यह अपने जीवन में स्थान देकर उसके द्वारा उसमें पूर्ण परिवर्तन ला देना चाहता है जो स्वयं स्तुत्य है। इन लोगों की दृष्टि में सामाजिक वर्ग-भेदों का कोई महत्त्व नहीं है, न वैदिक वा तांत्रिक कर्मकाण्ड का ही कोई मूल्य हो सकता है। इनके लिए पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा शास्त्रीयता से कुछ भी तात्पर्य नहीं, न तीर्थ-व्रत को ही ये किसी उच्चपद पर बिठाते हैं। इन्हें शालिग्राम की पूजा तक में, अपने इष्टदेव के सौन्दर्य का अनुभव न हो पाने के कारण, वैसा विश्वास नहीं है। इनकी वेश-भूषा बहुत साधारण कोटि की हुआ करती है और उसमें किसी दिखावे को स्थान नहीं दिया जाता। इनमें जो साधु रसिक हुआ करते हैं उन्हें केवल दो कोपीन तथा शरीर रक्षा के लिए कोई गूदड़ी मात्र चाहिए। इसी प्रकार पात्रों की जगह इन्हें केवल करवा मात्र चाहिए जिससे जल पीने का काम चल जाता है। विहारिनिदास ने अपनी साखियों में कहा है, "चौतार फट जाय, किन्तु मेरी गूदड़ी नित नयी ही बनी रहती है और इसी के आधार पर मुझे परमार्थ भी मिल सकता है।" इसी प्रकार "करवा चाहे दूसरों को कड़वा लगता हो, किन्तु मेरे लिए तो यह मीठा ही मीठा है"। ये लोग वृंदावन के रज को अपने शरीर पर धारण करते हैं और कभी-कभी किसी टूटी लकड़ी की कुबरी भी लिये दीख पड़ते हैं। आचार्यों के प्रति इन्हें अपार निष्ठा रहा करती है और अपने परमाचार्य अर्थात् स्वामी हरिदास जी को ये लोग ललिता का नित्यरूप भी स्वीकार करते हैं। इनकी दैनिक चर्या में वृंदावन में रहते हुए यमुना स्नान, नित्य

विहारी का दर्शन, प्रसादग्रहण, वाणीपाठ, नामजप, आदि प्रमुख हैं। इन्हें भाव की सेवा ही सर्वाधिक प्रिय है जिसकी मनोवृत्ति का परिचय ललित किशोरी जी के इस पद द्वारा प्रकट होता है--

हममें कुंज कुंज में हम हैं,
कुंज विहारी सोई मम हैं।
ललित प्रिये के रस में सम है,
अब काहू की रही न गम है॥

सभी संप्रदाय के अनुयायियों के लिए यह एक विधान जैसा ही है कि वे प्रायः स्वामी हरिदास के वंशजों से ही दीक्षा ग्रहण करते हैं। उसके अनन्तर वे रसिक की छाप लेकर अपनी साधनाओं में लग जाते हैं। ऐसे साधकों के लिए यह अधिक आवश्यक है कि वह अपनी मनोवृत्ति को भरसक अधिक से अधिक प्रेममयी बनाने की चेष्टा करे। इस संप्रदाय के अनुसार भी गोपियों वा सखियों में दो प्रमुख भेद देखने में आते हैं जिनमें एक सखी और दूसरा मंजरी का है। सखी का परिचय देते समय कहा जाता है कि इस पद के उपयुक्त केवल वही समझी जा सकती है जो राधा की समजातीया जैसी बनकर सेवा द्वारा कृष्ण को संतुष्ट कर सके और इनके लिए ललिता जैसी गोपियों का उदाहरण दिया जाता है। इसके विपरीत मंजरी उन्हें कहते हैं जिनका कर्त्तव्य श्यामा एवं कुंजविहारी की समुचित सुविधाओं पर ध्यान देना रहा करे। ये सखियाँ वस्तुतः राधा की दासियाँ मानी जा सकती हैं और ये अन्य सखियों की अपेक्षा कम अवस्था की भी हो सकती हैं। किन्तु राधा की अंतरंग होने के कारण इन्हें उन सखियों से भी अधिक अधिकार वाली समझा जाता है। इन सभी प्रकार की सखियों का उद्देश्य कृष्ण एवं राधा के ही सुख के लिए विविध चेष्टाएँ करना रहता है। इन्हें स्वसुख की अभिलाषा नहीं रहा करती। इन्हें कृष्ण के साथ स्वयं विहार करने की कोई उत्सुकता नहीं रहती, प्रत्युत ये उन दोनों के नित्यविहार को ध्यान में रखना भर ही चाहती हैं।

वास्तव में, इस संप्रदाय के अन्तर्गत गोपीतत्व को उतना महत्त्व भी ही नहीं दिया गया है जितना अन्य संप्रदायों में। उदाहरण के लिए इस संप्रदाय से बहुत कुछ मिलता-जुलता हित हरिवंश जी का राधावल्लभ संप्रदाय है जिसमें भी सखीभाव की न्यूनाधिक व्यवस्था दी गई दीख पड़ती है और वहाँ पर कई बातें ऐसी हैं जिनके कारण ये दोनों प्रायः एक से जान पड़ते हैं। परंतु राधावल्लभ संप्रदाय की सखी-सम्बंधी भावना की जो सबसे उल्लेखनीय बात है वह वहाँ पर गोपीतत्व को भी बहुत कुछ प्रश्रय दे डालना है जो हरिदासी सखी संप्रदाय को कभी स्वीकार नहीं है। राधावल्लभी संप्रदाय के अन्तर्गत सखी संप्रदाय की भावना का वस्तुतः गोपीतत्व की ओर से क्रमिक विकास हुआ है, किन्तु वहाँ पर फिर भी इसे सर्वथा त्यागा नहीं जा सकता है और इसके पूर्ण विकसित रूप में भी पहली भावना का प्रभाव अक्षुण्ण चला आता है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक नित्यविहार के अन्य अंगों का प्रश्न है राधावल्लभ संप्रदाय वृंदावन को अधिकतर उसके भौतिक रूप में ही देखता है। इसके कृष्ण भी उस रूप में परमतत्त्व बनकर अधिष्ठित नहीं हैं जिस रूप में हरिदासी सखी-संप्रदाय में दीख पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त, राधावल्लभ संप्रदाय की धारणा के अनुसार उनकी लीलाओं में हमें वैविध्य की बानगी भी देखने को मिलती है, जहाँ हरिदासी सखी संप्रदाय के अन्तर्गत केवल दोनों दिव्य प्रेमियों के नित्य संयोग की ही कल्पना है तथा उसमें कभी किसी प्रकार का विरहभाव नहीं आ सकता।

राधावल्लभ संप्रदाय के संस्थापक हित हरिवंश जी के जो हरिदास जी के ही सम-सामयिक थे। उनका जन्म सं० १५५९ में हुआ था तथा संवत् १६०९ में उन्होंन निकुंजगमन किया और अपने जीवन भर विशुद्ध प्रेमी जीव बने रहे। इनके सम्बंध में लिखे गए नाभादास के एक छप्पय से यह पता चलता है कि इन्होंने दिव्य युगल दम्पति एवं राधा की कुंजकेलि के अवसर पर नित्य 'खवासी' की और इस प्रकार पूर्ण आनंद का अनुभव करते रहे। इन्होंने प्रेमतत्त्व को अपनी भावना के अनु-

सार 'हित' का नाम दिया है और संप्रदाय के अन्तर्गत इन्हें उसकी साकार मूर्ति तक मानने की परंपरा है। इनके कई छोटे-छोटे ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें से 'राधा सुधानिधि' संस्कृत में लिखा गया है। इस रचना के अन्तर्गत उन्होंने राधा को विशेष महत्व प्रदान किया है और उनकी दृष्टि से वे कृष्ण से भी बढ़कर जान पड़ती है। इनका 'यमुनाष्टक' ग्रंथ भी संस्कृत में ही है, किन्तु अन्य रचनाएँ हिन्दी भाषा में लिखी गई हैं और अधिकतर पद संग्रहों के रूप में हैं। इन रचनाओं में उनके 'हित चौरासी' पदों को अधिक मूल्यवान समझा जाता है। उन्हीं के अन्तर्गत उनके सखीभाव की भी विशेष प्रतिष्ठा की गई है। इनके इन पदों में भावसौन्दर्य, पद-लालित्य एवं गेयत्व का भी अंश प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है। इनके पढ़ने पर ऐसा लगता है जैसे सारी वर्णित बातों को इनका रचयिता अपनी आँखों द्वारा स्पष्ट रूप में देख रहा है और वह नितांत भावविभोर भी है। स्वामी हरिदास के सखीभाव द्वारा हितहरिवंश जी प्रभावित हो सकते हैं, किन्तु फिर भी उनकी अनेक अपनी विशेषताएँ भी हैं।

हितहरिवंश जी के प्रसिद्ध शिष्य हरिराम व्यास थे जिन्हें केवल व्यास जी के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन्हें कुछ लोगों ने माध्व संप्रदाय में भी दीक्षित माना है, किन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। ये वास्तव में हित हरिवंश जी द्वारा ही दीक्षित रहे और यों इन पर स्वामी हरिदास का भी पूरा प्रभाव पड़ा था। ये मूलतः ओरछा के निवासी थे और हित हरिवंश जी के संपर्क में आने पर ये पीछे वृंदावन में आकर भी रहने लग गए थे। यह अवस्था में हित हरिवंश जी से केवल कुछ ही छोटे थे। स्वामी हरिदास एवं हितहरिवंश जी दोनों के ही प्रति निष्ठा रखने के विषय में उन्होंने स्वयं कहा है--

> **हरिवंशी हरिदासी जहाँ, मोंहि कृपा करि राखहु तहाँ,**
> **नित विहार आधार दै।**[1]

---

१. भक्त कवि व्यास जी, पृ० ४२७

इससे यह भी पता चलता है कि नित्यविहार की भावना भी उनमें अत्यंत दृढ़ रही होगी। उनकी रचनाएँ बहुत हैं और उन सभी को हम न केवल भावाभिव्यक्ति, अपितु रचना-कौशल की भी दृष्टि से अच्छी कोटि की ठहरा सकते हैं। इनकी वाणियों में स्वभावतः पदों की ही संख्या अधिक है और उनके अतिरिक्त इनकी बहुत-सी साखियाँ भी उपलब्ध हैं जिनमें इन्होंने अधिकतर सिद्धांतपरक बातें कही हैं तथा अपनी एक रचना 'रासपंचाध्यायी' के छंदों द्वारा इन्होंने रासलीला का भी विशद् वर्णन किया है। व्यास जी को कृष्ण एवं राधा के अतिरिक्त किसी भी अन्य को इष्ट-देव मानना अथवा उसके प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित करना पसंद न था। उन्हें गणेशादि देवताओं के पूजन के प्रति भी उपेक्षा थी और वे ऐसी बातों को स्पष्ट कह देने से भी नहीं चूकते थे। उन्हें दिव्य प्रेमी-प्रेमिका के नित्य-विहार का मनोयोग पूर्वक ध्यान करना और उसका यथातथ्य वर्णन करना ही सबसे अधिक प्रिय था।

राधावल्लभ संप्रदाय के एक अन्य अच्छे कवि सेवक जी भी हैं जिनका पूरा नाम दामोदर दास था। ये जबलपुर (मध्यप्रदेश) के निकटवर्ती किसी नगर के ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे और पीछे वृंदावन में भी आ गए थे। इनका जीवन-काल संभवतः केवल ३३ वर्षों का ही रहा, किन्तु इतने ही समय में इन्होंने अपने संप्रदाय के भीतर बहुत बड़ी प्रसिद्धि पा ली। इनकी कई रचनाओं को हित हरिवंश जी के पदों के ही साथ पढ़ा जाता है और इनके प्रति बहुत सम्मान भी प्रदर्शित किया जाता है। ये यद्यपि हित हरिवंश जी से दीक्षित नहीं हो पाए थे, किन्तु उनके प्रति इनकी अपार निष्ठा थी और इस बात का परिचय हमें इनकी रचनाओं द्वारा भी मिल जाता है। श्याम एवं श्यामा के युगल स्वरूप की आराधना वाले पद इनके भी मिलते हैं, किन्तु राधा के लिए इन्हें भी वैसी ही एकांत निष्ठा है जैसी हित हरिवंश जी की थी और उसी प्रकार ये उनका गुणगान भी करते हैं। इन सेवक जी के ही साथ एक अन्य ऐसे कवि चतुर्भुज दास का भी नाम लिया जाता है जिनके लिए प्रसिद्ध है कि वे सांप्रदायिक

सिद्धांतों का निरूपण भी बड़ी योग्यता के साथ किया करते थे तथा इस प्रसंग में वे प्रायः प्राचीन प्रमाणों को भी देने में कभी नहीं चूकते थे। इनके प्रभाव से प्रभावित होकर गोंडवाना प्रदेश के नेही नागरी दास भी राधा-वल्लभीय संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। ये आगे चलकर अत्यंत भावुक एवं रसिक भक्तों की श्रेणी में गिने गये। नेही नागरीदास की रचनाएँ भी प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं।

परंतु इन भक्तों से भी अधिक काव्य-रचना करने वाले ध्रुवदास तथा चाचाहित वृंदावन जी हुए। ध्रुवदास की रचनाओं की एक विशेषता है कि उनमें हरिदासी सखीभाव की निष्ठा कहीं अधिक मात्रा में व्यक्त की गई दीख पड़ती है। वास्तव में हित हरिवंश जी तथा उनके अनेक अन्य अनुयायी कवि भी ध्रुवदास के समय तक गोपीतत्त्व को विशेष रूप से अपनाते आ रहे थे। उन्होंने उसके प्रति ऐसा भाव कदाचित् कभी भी व्यक्त नहीं किया था जिससे सखीभाव का अधिक महत्त्व जान पड़े। ध्रुवदास ने ही अपनी रचनाओं द्वारा उस प्रकार की भावना को विशेष प्रश्रय दिया और उसका स्पष्ट वर्णन भी किया। इनकी यह विचारधारा हरिदास जी और विशेष कर विहारीनिदास द्वारा प्रकट किये गए सिद्धांतों से बहुत मेल खाती है। ध्रुवदास ने अपने संप्रदाय में स्वीकृत बातों का वर्णन भी किया है, किन्तु उन्होंने पृथक् स्थान दे डाला है। इनके विषय में अधिक विवरण नहीं मिलता, किन्तु जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे पता चलता है कि इनकी सांप्रदायिक भावना इनके पूर्वजों की देन थी। इनका देहांत विक्रम की १७वीं शताब्दी के अंत समय कभी हुआ था और ये किसी कायस्थ परिवार में उत्पन्न हुए थे। ध्रुवदास के बयालिस ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, किन्तु ये प्रायः सभी बहुत छोटे-छोटे हैं और उनमें से अधिक में लीलाओं का वर्णन मिलता है।

चाचा हितवृंदावन जी ध्रुवदास जी के लगभग ५०-६० वर्ष पीछे उत्पन्न हुए और उन्होंने उससे भी अधिक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। ये संभवतः अपने जन्म से ही ब्रजवासी थे और वहाँ के गोस्वामी के पिता के गुरुभाई

होने के कारण चाचा कहलाकर प्रसिद्ध हो गए थे। इनकी रचनाओं की यह एक विशेषता है कि इन्होंने उनका विषय केवल सांप्रदायिक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत इन्होंने सख्यभाव के अतिरिक्त शांत, दास्य, वात्सल्य आदि पर भी कुछ न कुछ रचनाएँ कर डालीं। इधर पता चला है कि इनका एक बड़ा-सा ग्रंथ श्री रामचन्द्र से चरित्र से सम्बद्ध भी मिला है जो इस सम्बंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय समझा जा सकता है। इनकी रचना प्रसिद्ध 'लाड़ सागर' के अन्तर्गत कृष्ण एवं राधा के बाल्यकाल से लेकर क्रमशः आगे तक के जीवन का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है और इसके साथ ही उसमें पूरे ब्रज जीवन का भी प्रतिबिंब दीख पड़ता है। लगभग इसी विषय को लेकर इन्होंने एक अन्य बड़े ग्रंथ 'ब्रज प्रेमानंद सागर' की भी रचना की है। इनकी रचनाओं में कतिपय ऐसी भी मिलती हैं जिनमें छद्म लीलाओं का वर्णन किया गया है और उनके द्वारा विनोदप्रियता के विविध प्रसंग छेड़े गए हैं। वास्तव में इनकी रचनाएँ हमारे सामने कतिपय सुन्दर प्रबन्ध काव्यों के भी उदाहरण उपस्थित करती हैं जो वहाँ प्रायः कम मिला करते हैं।

सात

हितहरिवंश जी के राधावल्लभ संप्रदाय की ही भाँति सखी संप्रदाय का प्रभाव निम्बार्क संप्रदाय की साधना पर भी पड़ा। निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत उपास्य का रूप ब्रह्मवत् ही समझा जाता रहा, किन्तु वह पीछे कृष्ण के रूप में भी गृहीत हुआ। इसके सिवाय वहाँ राधातत्त्व का भी समावेश था, किन्तु फिर भी युगल की उपासना हरिदासी सखी संप्रदाय की भाँति नहीं थी। निम्बार्क संप्रदाय के कृष्ण एवं राधा साधारणतः ब्रज में केलि करने वाले ही जैसे लगते हैं और वहाँ पर गोपियों के यूथ भी विद्यमान हैं। वहाँ पर प्रसंगतः दास्यभाव भी आ जाता है जिस कारण सख्यभाव का वह रूप जो हरिदासी संप्रदाय में स्वीकृत है कभी वैसा अमिश्रित नहीं रह पाता। इसके सिवाय निम्बार्कीय उपासना में कर्मकाण्ड का

महत्त्व भी कम नहीं, किन्तु हरिदासी सखीभाव में उसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की जाती है तथा विधि-निषेधमयी बातों का खंडन तक दीख पड़ता है। निम्बार्क संप्रदाय में सखीभाव का प्रदर्शन विशेषतः उस समय से ही होने लगा जब से उसमें व्रजभाषा में लिखने वाले कवियों का आविर्भाव हुआ और जब से इस उपासना-पद्धति का प्रचार भी अधिक बढ़ने लग गया। इसे अपनाने वाले सर्वप्रथम कवि कदाचित् श्री भट्ट जी थे जिन्हें नाभादास ने 'मधुरभाव संवलित ललित लीला' की छवि देखकर हर्षित होने वाला तथा रसिकों के लिए 'मोद घन' बनकर भक्ति का प्रचार करने वाला बतलाया है। इनके जीवन-काल के विषय में कुछ मतभेद होने के कारण कभी-कभी इन्हें माधुर्यरस का सर्वप्रथम कवि भी मान लेते हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना 'युगल सत' वा 'युगल शतक' के रचना-काल सम्बंधी दोहे में आये हुए राग शब्द के स्थान पर राम पढ़ जाने के कारण भ्रमवश लो नें सं० १६५२ को सं० १५५२ समझ लिया जिससे उसमें १०० वर्षों का अंतर आ गया। इस भ्रम का निवारण तब हुआ जब श्रीभट्ट के गुरु कश्मीरी भट्ट के जीवन-काल तथा स्वयं उनके भी विषय में किये गए हरिराम व्यास एवं ध्रुवदास के उल्लेखों पर पूरा विचार किया गया। श्री भट्ट जी के वर्णनों में जिस लीला का परिचय मिलता है वह व्रज की लीला ही प्रतीत होती हैं तथा उनके कृष्ण एवं राधा का व्यक्तित्व भी पृथक्-पृथक् दीखता है। इस प्रकार यद्यपि वहाँ पर श्री भट्ट जी सखी के रूप में उन लीलाओं का अनुभव करते दीख पड़ते हैं, वह गोपीभाव का जैसा ही लगता है। उसमें मधुरोपासना का भी यथेष्ट अंश विद्यमान है जिसके कारण वह सखी संप्रदाय के अनुसार वर्णित उपासना से कुछ न कुछ भिन्न रूप धारण कर लेता है।

निम्बार्क संप्रदाय के एक अन्य प्रसिद्ध कवि हरिव्यास जी हैं जिनका रचना-काल सं० १६२५ से सं० १६८० तक माना जाता है। ये किसी गौड़ ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे और इनका जन्म-स्थान मथुरा नगरी कही जाती है। इनके द्वारा रचित अनेक संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हैं, किन्तु

ब्रजभाषा में लिखी गई केवल 'महावाणी' ही मिलती है जिसके आधार पर इन्हें कुशल कवि समझा जाता है। हरिव्यास जी की 'महावाणी' के विषय में प्रायः सन्देह भी किया जाता है कि यह उनकी रचना है भी वा नहीं। परंतु बहुत-से लोगों ने इस प्रकार के सन्देह का कोई पुष्ट कारण नहीं पाया है और वे इसे उनकी ही रचनाओं का संग्रह मान लेते हैं। 'महावाणी' ग्रंथ के अन्तर्गत जिन सिद्धांतों की झलक मिलती है उनके अनुसार उपास्यदेव के युगल रूप में प्रिया एवं प्रियतम के नित्यविहार-निरत जोड़ी का समावेश है और उनकी लीला की संयोजिका सखी को नित्यप्रेमरूपा कहा गया है। यहाँ पर लीला वा विहार का रूप अधिकतर वैसा ही मिलता है जैसा सखी संप्रदाय का है, किन्तु उसमें मधुरभाव की प्रचुरता है। हरिव्यास जी के १२ शिष्यों में परशुरामदेव विशेष प्रसिद्ध हैं जिन्हें जयपुर क्षेत्र का निवासी होना कहा जाता है। इनके बहुत से ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें से कुछ में निर्गुणभक्ति के भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं और कभी-कभी इनके विशुद्ध निम्बार्क संप्रदायी होने में सन्देह भी किया जाता है। परशुरामदेव के ही एक प्रशिष्य वृंदावन दास थे जिनके शिष्य प्रसिद्ध घनानंद कवि हुए। घनानंद का जन्म संवत् १७३० माना जाता है और प्रसिद्ध है कि उन्हें अहमद शाह अब्दाली के साथ आये हुए आक्रामकों ने मार डाला। घनानंद अत्यन्त कुशल कवि हैं और उन्होंने बड़ी ही सरस कविता भी की है। किन्तु विवेच्य सखी संप्रदाय की दृष्टि से उसका उतना महत्त्व नहीं है। घनानंद ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत उन सभी बातों का भी समावेश कर दिया है जो उसके विशुद्ध रूप से भिन्न सिद्ध होती हैं। निम्बार्क संप्रदाय के अन्य कवियों में रसिक गोविन्द का भी नाम लिया जा सकता है जिनकी रचना 'युगलरस माधुरी' इस विषय की दृष्टि से उल्लेखनीय है, किन्तु जिसकी बातों में हमें कोई वैसी विशेषता भी नहीं दीख पड़ती।

निम्बार्क संप्रदाय की ही भाँति गौड़ीय संप्रदाय के कवियों पर भी सखी संप्रदाय की उपासना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और उनमें

से कुछ ने उच्चकोटि की रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। परंतु इनके दृष्टि-कोण में कुछ अंतर भी दीख पड़ता है। गौड़ीय संप्रदाय की भक्ति-प्रणाली में कृष्ण एवं राधा की उपासना के प्रचलित होने पर भी वहाँ राधा का अधिक महत्त्व है। इस कारण गोपीभाव को यहाँ पर महाभाव के रूप में भी लिया गया है तथा सखीभाव गोपीभाव तक ही सीमित रह जाता है। गोपी कभी-कभी कृष्ण की प्रेमिकाओं का रूप भी ग्रहण कर लेती हैं जिससे सख्यभाव अमिश्रित नहीं रहने पाता। गौड़ीय संप्रदाय के ऐसे कवियों में समय की दृष्टि से सर्वप्रथम नाम गदाधर भट्ट का आता है। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अपने संप्रदाय की मान्यताओं का ही अनुसरण किया है, किन्तु एक बात में ये उससे कुछ भिन्न मार्ग भी ग्रहण कर लेते जान पड़ते हैं, जहाँ पर ये राधा को परकीया न मानकर प्रायः कृष्ण की स्वकीया बना देते हैं। फिर भी इनकी सखीभावपरक रचनाएँ भी महत्त्व-पूर्ण है तथा इनकी रचना-शैली भी सुन्दर कही जा सकती है।

गौड़ीय संप्रदाय के एक अन्य ऐसे कवि सूरदास मदन मोहन को नाभा-दास ने सखीभाव की उपासना करने वाली सहचरी तक की पदवी प्रदान की है जिससे पता चलता है कि इनकी भक्ति का रूप क्या रहा होगा। सूरदास मदन मोहन की अनेक रचनाओं का प्रसिद्ध वल्लभ संप्रदाय वाले महाकवि सूरदास के पदों से घुलमिल जाने के कारण उनकी प्रामाणिकता में सन्देह भी किया जाता है। फिर भी इनके जो पद प्रामाणिक मान लिये गए हैं और उनके देखने से इनके सखीभावोपासक होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। जिन लोगों ने इनकी रचनाओं का अध्ययन हरिदास जी के पदों के साथ रखकर किया है उनका कथन है कि ये उनके बहुत समान भाव व्यक्त करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि एक में दूसरे की व्याख्या तक कर दी गई है। सूरदास मदनमोहन ने स्वभावतः राधा को विशेष महत्त्व दिया है और कृष्ण को उनके पीछे परछाईं की भाँति अनुसरण करता हुआ भी दिखलाया है। इस संप्रदाय के अन्य ऐसे कवियों में वल्लभ रसिक एवं भगवत मुदित के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय

हैं। वल्लभ रसिक जी की एक यह विशेषता है कि ये संयोगपक्ष के बहुत सफल कवि हैं। उन्हें विरह का उल्लेख तक करना कदाचित् पसंद नहीं है। नाभादास ने भगवत मुदित को भी सखीभाव के ही उपासक के रूप में स्मरण किया है। ये अनन्य भजनानन्दी थे और इनकी मनोवृत्ति का स्तर साधारणतः विधि-निषेधों से कहीं ऊपर का समझा जा सकता था। ये गौड़ीय संप्रदाय के महंत किसी हरिदास के शिष्य थे और ये उनके प्रति अपना सर्वस्व तक अर्पण करने की इच्छा से एक बार उनसे मिलन को उत्सुक बन गए थे। किन्तु गुरु ने ही इस बात को ठीक न माना। भगवत मुदित जी ने एक 'भक्तमाल' की भी रचना की है जिसका नाम 'रसिक अनन्यमाल' है। इनका सखीभाव वर्णन सरस और उत्कृष्ट है। इस संप्रदाय के अन्य कवियों में 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रसिद्ध प्रियादास की भी चर्चा की जाती है। इन्होंने भी सरस भाव का वर्णन किया है।

आठ

गौड़ीय संप्रदाय के कवियों ने जिस प्रकार सखीभाव को अपनाया था, उसी प्रकार वल्लभ संप्रदाय वालों ने भी किया। वास्तव में इसके कवि काव्य-कौशल की दृष्टि से भी बहुत उच्चकोटि के कलाकार हुए और उन्होंने इस भाव को वैसे स्वतंत्र रूप में भी आश्रय दिया। वल्लभ संप्रदाय का उपासना भाव अपने वात्सल्य सम्बंधी तत्त्व के लिए भी प्रसिद्ध था, किन्तु उसके गोपीभाव में भी कोई कमी नहीं थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' के भी देखने से पता चलता है कि ऐसे कवियों में सखीभाव की मात्रा कहाँ तक थी तथा कहाँ तक सख्यभाव का वर्णन करने में उन्होंने अपनी निपुणता प्रदर्शित की थी। वहाँ पर हमें यहाँ तक देखने को मिलता है कि भक्तों के प्रसंग में कभी-कभी उनके पशुओं तक को सखीपरक नाम दे दिया गया है। उदाहरण के लिए कुंभनदास की वार्त्ता के प्रसंग में जहाँ 'भाव प्रकाश'-कार ने दिवस की लीला में उन्हें ठाकुर जी का अंतरंग सखा 'अर्जुन' का नाम दिया है

और रात्रि की लीला के लिए उन्हें 'विसाखा' कहा है, वहाँ पर वार्त्ता के प्रसंग में यह भी आया है कि म्लेच्छों का आक्रमण होते समय उनसे बचाने के लिए कुंभन दास आदि चार भक्तों ने जिस भैंसे द्वारा श्री गोवर्द्धन नाथ जी को अपने स्थान से हटाया वह श्रीस्वामिनी जी के बाग की मालिन रह चुका था और लीला की चर्चा करते समय उसे 'वृंदा' सखी का नाम तक दे दिया गया दीख पड़ता है।[1] वल्लभ संप्रदाय की दृष्टि से वस्तुतः गोपी वा सखी में कोई तात्त्विक भेद नहीं जान पड़ता जिस कारण वह प्रायः कांताभाव के अनुसार काम करता हुआ भी पाया जाता है। गोपी-भाव का रूप वहाँ पर ब्रज-लीलाओं के माध्यम से दीख पड़ता है जिस कारण वह युगल के प्रति प्रसंग आन पर ही, सख्यभाव बन पाता है। इस सम्बंध में कुछ लोगों ने यह भी अनुमान किया है कि वल्लभ संप्रदाय वाले कवि प्रायः अपनी वृद्धावस्था में आकर सखीभाव की ओर अधिक ध्यान देने लगते थे और उस काल में उनका आकर्षण राधा के प्रति भी उसी प्रकार बढ़ जाया करता था।

वल्लभ-संप्रदाय के कवियों में अष्टछाप के कवियों का विशिष्ट स्थान हैं जिनमें कुंभनदास अवस्था में सबसे बड़े थे। इनके विषय में कहा जाता है कि स्वामी वल्लभाचार्य के संपर्क में आन के पहले ये मधुरभाव की कविता किया करते थे। उसके अनन्तर ही इन्होंने बाललीला आदि के पदों का गान किया। फिर भी इनका जीवन उतना अन्यत्र नहीं रम सका। इनके जो पद इस समय उपलब्ध हैं और प्रकाशित भी हो चुके हैं उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती जान पड़ती है। कुंभनदास किसी जमुनावती नामक गाँव के निवासी थे और निर्धन ब्राह्मण गृहस्थ थे। इनका जीवन-काल सं० १५२५ से १६३९ तक माना गया है। इनके लिए यह भी प्रसिद्ध है कि ये अंत समय तक सखीभाव के ही पद पूरी तल्लीनता के साथ रचते एवं गाते चले गए। सूरदास के लिए कहा जाता है कि वल्लभाचार्य से

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अष्टछाप स्मारक समिति, मथुरा, द्वितीय संस्करण, सं० २०१०) पृ० ८३७-४६

मिलने के पहले वे स्वामी हरिदास के शिष्य रह चुके थे,[१] किन्तु इसका कोई आधार नहीं जान पड़ता । केवल इतना ही विदित होता है कि इनमें दैन्यभाव की मात्रा अधिक थी जिसका एक रूप उनके विनय पदों में लक्षित हुआ । इनमें आगे चलकर कांतासक्ति की भावना भी जागृत हुई तथा सखी संप्रदाय सुलभ भावों की भी कदाचित् तभी अनुभूति हो सकी ।

सूरदास की अनेक रचनाओं में हमें 'सूरसखी' अथवा 'सूर सुजान सखी' तक का नाम रचयिता के रूप में मिलता है जिससे इस अनुमान को समर्थन प्राप्त होता है कि उनकी इस ओर विशेष प्रवृत्ति भी रही होगी । ऐसी छापवाली रचनाओं में अधिकतर युगल दम्पति की संयोगपरक लीलाओं का ही वर्णन पाया जाता है तथा यहाँ पर उनकी विशेष तन्मयता भी दीखती है । इनकी सखियाँ भी दोनों प्रेमी एवं प्रेमिका को केलि की सुविधा दिलाने पर उतनी ही उद्यत जान पड़ती हैं, जितनी स्वामी हरिदास के सखी संप्रदाय वाले कवियों द्वारा चित्रित सखियाँ रहा करतीं हैं और इन दोनों में प्रायः कम अंतर दीख पड़ता है । परंतु मान आदि के प्रसंगों में कार्य करते समय उनका रूप विशेषकर ब्रज की गोपियों जैसा ही हो जाता है ।

अष्टछाप के ही एक अन्य वैसे ही सफल कवि परमानंद दास भी हैं । ये कन्नौज के निवासी किसी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे और अपने लड़कपन से ही निस्पृह जीवन की ओर प्रवृत्ति रखनेवाले जीव थे । इन्हें बाललीला के पदों की रचना कदाचित् अधिक पसंद थी । यों तो रासलीलादि सम्बंधी पदों की रचना भी ये बड़ी भावुकता के साथ किया करते थे । इनकी सखीभाव सम्बंधी रचनाएँ अधिक संख्या में नहीं मिलतीं और न जो प्राप्य हैं उनमें कोई वैसी विशेषता ही पायी जाती है । कृष्ण-दास नामक अष्टछाप के कवि तो ललिता सखी के अवतार ही माने जाते हैं । इन्होंने अधिकतर शृंगारिक रचनाएँ ही की हैं । इनकी, गोविंद स्वामी की, छीत स्वामी की तथा चतुर्भुज दास की उपलब्ध कविताओं

१. डॉ० मुंशीराम शर्मा : सूर सौरभ, भा० १, पृ० ४४

में भी हमें सख्यभावपरक विशेषताएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होती। इन सभी की रचनाओं का वर्ण्य विषय प्रायः एक ही प्रकार से सांप्रदायिक है। परंतु इसके विपरीत नंददास के सम्बंध में हम कह सकते हैं कि उनकी रचनाएँ सख्यभाव से भी भरी हुई पायी जाती हैं। इन्होंने अपने 'रूप मंजरी' नामक प्रेमाख्यान में तो सखीपरक भाव के ही एक पहलू का चित्रण किया है। फिर भी नंददास जितना अपनी सांप्रदायिक भावनाओं के निकट हैं, उतना हरिदासी सखी संप्रदाय की ओर झुकते नहीं जान पड़ते। अष्टछाप से इधर वाले कवियों में हरिराय जी तथा नागरी-दास जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिरायजी ने फुटकर पदों की रचना करने के अतिरिक्त प्रसिद्ध वैष्णवन की वार्ताओं पर अपनी टिप्पणी लगायी है जो सखीभाव की दृष्टि के अनुसार बहुत महत्त्वपर्ण कही जा सकती है तथा जिसकी उपयोगिता सांप्रदायिक भावनाओं के अनुसार भी कम नहीं है। वल्लभ संप्रदाय में प्रसिद्ध नागरीदास, कृष्णगढ़ नरेश सावंत सिंह थे जिन्होंने बहुत कुछ लिखा है। इनका भी झुकाव सखीभाव की ओर था जिस कारण इनकी वाणियों में अनेक स्थल ऐसे भी मिल जाते हैं जिनमें हरिदासी सखीमत की विचारधारा शुद्ध रूप में दीख पड़ती है।

इन प्रसिद्ध संप्रदायों के अतिरिक्त 'ललित संप्रदाय' नामक एक अन्य संप्रदाय का भी पता चलता है जिस पर सखी संप्रदाय का प्रभाव बहुत स्पष्ट है तथा जिसे इस दृष्टि के अनुसार पूरा महत्त्व भी दिया जा सकता है। इसके प्रवर्तक वंशीअलि का सम्बंध विष्णु स्वामी संप्रदाय के साथ होना बतलाया जाता है और कहा जाता है कि उसमें इन्हीं ने सख्यभाव का प्रचार भी किया। वंशीअलि का जन्म वृंदावन में सं० १७६४ में हुआ था और इनका नाम वंशीधर पड़ा था। अपने बाल्यकाल से ही इनमें राधा के प्रति प्रगाढ़ भक्ति जागृत हो गई थी जो इनके विवाहित होकर गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने पर भी कम नहीं हुई। ये फिर ३० वर्ष की अवस्था से वृंदावन में विरक्त भाव के साथ रहने लगे और वहीं

पर इनका सं० १८२२ में देहांत भी हो गया। इन्होंने दो-तीन ग्रंथ संस्कृत में रचे हैं और उनके अतिरिक्त अनेक पदों की रचना ब्रजभाषा में भी की है। इन्होंने अपनी कुछ रचनाओं में स्वामी हरिदास तथा हितहरिवंश जी का भी नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और उनके सख्यभाव का अनुसरण भी किया है। वास्तव में वंशीअलि के उपास्य देव कृष्ण न होकर राधा ही हैं जिन्हें उन्होंने सच्चिदानंद स्वरूपिणी भी कहा है। राधा सर्वोपरि हैं, किन्तु वे अपने भक्तों के लिए उनके प्रति पराधीन भी कही जा सकती हैं और स्वयं कृष्ण तक उनके अनन्य भक्त हैं। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि राधा की ललितादिक सखियाँ उन्हें अपने पति के रूप में स्वीकार करती हैं। वंशीअलि जी के अनुसार जब तक हममें ललिता के प्रति भाव अथवा 'ललिता रति' का आविर्भाव नहीं हो जाता, तब तक राधा की प्राप्ति के हम अधिकारी नहीं हो सकते। वंशीअलि जी किसी ऐसे महारास की भी कल्पना करते हैं, जहाँ पर केवल राधिका ही सर्वेसर्वा हैं। उनके अनुसार—

सेव्य सदा श्रीराधिका, सेवक नंदकुमार।
दूजे सेवक सहचरी, सेवा विपुल विहार॥

इस संप्रदाय में नित्य विहार का आयोजन, सहचरी की ही इच्छा के अनुसार चलता है और ललिता के ही अंचल में दोनों एक साथ विराजते हैं। एक प्रकार वे दोनों ही ललिता के सहचर स्वरूप हैं और वे तीनों एक प्राण हैं। राधा, लाल, ललिता एवं वृंदावन में कोई भी भेद नहीं है। वंशीअलि जी की सखीभाव की उपासना इसी प्रकार की भावना लेकर अग्रसर होती है और अपनी रचनाओं में उन्होंने इसी का वर्णन भी किया है।

ललित संप्रदाय के एक अन्य भक्त कवि किशोरीअलि थे जो वंशीअलि के शिष्य थे। इनके लिए प्रसिद्ध है कि इनका पूर्व नाम जगन्नाथ भट्ट था। इनका जन्म मथुरा में हुआ था तथा इनकी पत्नी का नाम किशोरी था। किशोरी को ये बहुत प्यार करते थे और उसका देहांत हो जाने पर

ये उसके विरह में किशोरी-किशोरी पुकारते-पुकारते बरसाना तक पहुँच गए, जहाँ पर वर्तमान वंशीअलि ने इन्हें अपने संप्रदाय में दीक्षित करके इनका नाम किशोरीअलि रख दिया और तब से ये वहीं रहने लग गए। किशोरीअलि की भी बहुत-सी रचनाएँ कही जाती हैं जिनमें इन्होंने अपने गुरु के सिद्धांतों का ही पूरा अनुसरण किया है। इन दोनों कवियों के अतिरिक्त ललित संप्रदाय के अनुगामियों में अलबेलीअलि, वल्लभअलि आदि अन्य अनेक भक्त कवि हुए हैं जिनकी रचनाएँ न्यूनाधिक संख्या में उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें कोई वैसी उल्लेखनीय बात नहीं दीख पड़ती। वास्तव में अभी तक इस संप्रदाय का पूरा परिचय ही उपलब्ध नहीं है, न इसके साहित्य का कोई समुचित प्रकाशन ही हो पाया है। इसमें राधा की प्रधानता के आ जाने से उसके कृष्ण के साथ उस सम्बंध का कोई महत्त्व नहीं रह जाता जो स्वामी हरिदास के सखी संप्रदाय द्वारा कल्पित किया गया था तथा जिसके अनुसार ही नित्यविहार के एक अनुपम रूप की सृष्टि भी हो पायी थी।

स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित सखी संप्रदाय की बातों को उनके विशुद्ध सख्यभाव के भावनानुसार कदाचित् किसी भी अन्य संप्रदाय ने नहीं अपनाया, न स्वयं उनके भी सभी अनुयायियों ने उसके रहस्य को पूर्ण महत्त्व प्रदान किया। हितहरिवंश जी के राधावल्लभ संप्रदाय के सिद्धांतों के साथ उसकी बहुत कुछ समानता जान पड़ी, किन्तु वहाँ पर भी हम इन दोनों के बीच कम-से-कम नित्य वृंदावन की भावना तक में महान् अंतर पाते हैं। इसी प्रकार वल्लभ संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय, गौड़ीय संप्रदाय तथा ललित संप्रदाय आदि ने सखीभावना को न्यूनाधिक महत्त्व देते हुए भी उसके साथ कहीं गोपीतत्त्व तो कहीं राधातत्त्व की विलक्षणता के कारण पूरा सामंजस्य स्थापित नहीं किया। फलतः उसका मौलिक रूप अपने ढंग का अकेला ही दीख पड़ा। सखी या सखियों के समूह की भावना का कुछ-न-कुछ परिचय हमें कतिपय उन संप्रदायों की साधना में भी मिलता है जो निर्गुणी वर्ग के माने जाते हैं। उदाहरण के

लिए प्राणनाथ के धामी संप्रदाय, चरणदास के चरणदासी संप्रदाय तथा शिवनारायण के शिवनारायणी संप्रदाय में भी हमें इसके कोई न कोई रूप उपलब्ध होते हैं। परंतु इनके सम्बंध में यहाँ पर विचार करने की कोई आवश्यकता विशेषकर इसलिए प्रतीत नहीं होती कि इनके यहाँ वैसे नित्यविहार की घटनाओं की व्याख्या प्रायः उन्हें रूपक मानकर करने की परंपरा है, जिस कारण यहाँ इनका अभिप्राय ही भिन्न हो जा सकता है। इसी प्रकार जहाँ तक मराठी के महानुभाव पंथ अथवा वारकारी संप्रदाय के यहाँ उपलब्ध कृष्णोपासना का प्रश्न है, हम वहाँ पर भी किसी ऐसी भावना का स्पष्ट उदाहरण नहीं पाते, न वहाँ पर इसकी कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती है। सखी संप्रदाय की विशुद्ध भावना उस पर से सांप्रदायिकता का आवरण हटा देने पर भी स्वयं एक अपना मूल्य रख सकती है।

नामानुक्रमणिका

कुछ श्रेष्ठ आलोचनात्मक ग्रंथ

आधुनिक साहित्य, ७)
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

*

प्रसाद साहित्य कोश, ६)
डा० हरदेव बाहरी

*

प्रसाद का काव्य, १०)
डा० प्रेमशंकर

*

जयशंकर प्रसाद, ४)
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

*

कबीर साहित्य की परख, ५)
श्री परशुराम चतुर्वेदी

*

हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा, ४)
डा० रामअवध द्विवेदी

*

हिन्दी मूल और शाखा, ५)
श्री विरागी, श्री अविनाशचन्द्र

*

हिन्दी कथा-साहित्य, ३)
श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

*

आदान-प्रदान, २)
श्री वारणासि राममूर्ति 'रेणु'

*

अरस्तू का काव्यशास्त्र, ५)
डा० नगेन्द्र

*

साहित्यरूप, ६)
डा० रामअवध द्विवेदी

भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद